वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय
कोटा

एम.जे.एम.सी. 2
फीचर लेखन एवं पत्रिका संपादन
(Feature Writing & Magazine Editing)

फीचर लेखन एवं पत्रिका संपादन-4

पत्रकारिता एवं जनसंचार स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम
(Master of Journalism & Mass Communication)

फीचर लेखन एवं पत्रिका संपादन 4

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय
कोटा

एम. जे. एम. सी. - 2

फीचर लेखन एवं पत्रिका
संपादन

पत्रकारिता एवं जनसंचार स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम

समीक्षात्मक लेखन - 4

पाठ्यक्रम विशेषज्ञ समिति

* **डॉ. राधावल्लभ व्यास**
कुलपति
कोटा खुला विश्वविद्यालय
कोटा
(अध्यक्ष समिति)

* **प्रो. ए.के. बनर्जी**
पूर्व-अध्यक्ष
पत्रकारिता विभाग
बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी

* **डॉ. ए. डबल्यू. खान**
कुलपति
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

* **प्रो. जे.एस. यादव**
निदेशक
भारतीय जनसंचार संस्थान
नई दिल्ली

* **राधेश्याम शर्मा**
पूर्व-महानिदेशक
माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता
विश्वविद्यालय, भोपाल(म. प्र.)

* **डॉ. भंवर सुराणा**
ब्यूरो चीफ/ विशेष संवाददाता
दैनिक हिंदुस्तान
जयपुर

* **डॉ. ओ.पी. केजरीवाल**
महानिदेशक, महानिदेशालय आकाशवाणी
नई दिल्ली

* **डॉ. रमेश जैन**
अध्यक्ष-जनसंचार विभाग
कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा

संयोजक

डॉ. रमेश जैन- अध्यक्ष, जनसंचार विभाग
कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा

पाठ-संपादक एवं भाषा-संपादक

डॉ. विजय कुलश्रेष्ठ
सहआचार्य एवं विभागाध्यक्ष
सुखाडिया विश्वविद्यालय, उदयपुर

अकादमिक एवं प्रशासनिक व्यवस्था

प्रो.(डॉ.) नरेश दाधीच
कुलपति
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

प्रो.(डॉ.)एम.के. घड़ोलिया
निदेशक(अकादमिक)
संकाय विभाग

योगेन्द्र गोयल
प्रभारी
पाठ्य सामग्री उत्पादन एवं वितरण विभाग

पाठ्यक्रम उत्पादन

योगेन्द्र गोयल
सहायक उत्पादन अधिकारी,
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

उत्पादन - अप्रैल 2012

सर्वाधिकार सुरक्षित : इस सामग्री के किसी भी अंश की वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में अथवा मिमियोग्राफी (चक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है। कुलसचिव व.म.खु.वि. कोटा द्वारा वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा (राज.) के लिये मुद्रित एवं प्रकाशित।

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय

एम. जे. एम. सी. -2

फीचर लेखन एवं पत्रिका संपादन

पाठ्यक्रम - द्वितीय
खण्ड चतुर्थ

4

इकाई 17 नाटक समीक्षा- 1	8–30
इकाई 18 नाटक समीक्षा- 2	31–53
इकाई 19 फिल्म समीक्षा	54–66
इकाई 20 कला समीक्षा	67–80
इकाई 21 पुस्तक समीक्षा	81–95

पाठ लेखक

1. **डॉ.विजय कुलश्रेष्ठ**
   सहआचार्य एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
   सुखड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर
2. **श्याम माथुर**
   उप संपादक
   राजस्थान पत्रिका
   जयपुर
3. **डॉ. विष्णु पंकज**
   वरिष्ठ साहित्यकार, पत्रकार
   जयपुर
4. **रामकुमार**
   पत्रकार, लेखक
   कोटा
5. **हमीदुल्ला**
   हिन्दी नाटककार
   जयपुर
6. **डॉ. रीतारानी पालीवाल**
   रीडर, हिन्दी विभाग
   इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
   नई दिल्ली
7. **डॉ. सुरेन्द्र विक्रम**
   अध्यक्ष-हिन्दी विभाग
   क्रिश्चियन डिग्री कॉलेज, लखनऊ(उ.प्र.)
8. **डॉ. राधामोहन श्रीवास्तव**
   अध्यक्ष, कृषि अर्थशास्त्र विभाग
   बड़हलगंज, गोरखपुर(उत्तर प्रदेश)
9. **डॉ. कैलाश पपने**
   विशेष संवाददाता
   दैनिक हिन्दुस्तान, नई दिल्ली
10. **सुभाष सेतिया**
    संपादक 'आजकल'
    प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय
    पटियाला हाउस, नई दिल्ली
11. **डॉ.लक्ष्मीकांत दाधीच**
    प्राध्यापक, वनस्पति शास्त्र विभाग
    राजकीय महाविद्यालय कोटा
12. **दीनानाथ दुबे**
    पत्रकार, लेखक
    कोटा
13. **राधेश्याम तिवारी**
    जनसंचारकर्मी एवं लेखक
    जयपुर
14. **श्रीमती सुषमा जगमोहन**
    संध्या टाइम्स
    बहादुरशाह जफर मार्ग, नई दिल्ली
15. **सत सोनी**
    संपादक- संध्या टाइम्स
    बहादुरशाह जफर मार्ग, नई दिल्ली
16. **डॉ. रमेश जैन**
    अध्यक्ष, जनसंचार विभाग
    कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा

खंड एवं इकाई परिचय

एम. जे. एम. सी. पाठ्यक्रम के द्वितीय प्रश्न पत्र "फीचर लेखन एवं पत्रिका सम्पादन के प्रस्तुत चतुर्थ खण्ड में"समीक्षा लेखन" पर सविस्तार चर्चा की गई हैं।

समीक्षा का शाब्दिक अर्थ'अच्छी तरह देखना' या जाँच करना हैं। दूसरे शब्दो में इसका अर्थ"सम्यक ईक्षा" होता हैं। किसी वस्तु, रचना या विषय के सम्बन्ध सम्यक ज्ञान प्राप्त करना, प्रत्येक तत्व का विवेचन करना समीक्षा हैं। फीचर लेखन के इस खण्ड में समीक्षा के सम्बन्ध में व्यापक रूप से विश्लेषण और विवेचन उपलब्ध हैं। यहाँ यह समझाने का प्रयास किया गया हैं कि अध्यायंकर्ता समीक्षा और आलोचना का भेद भी समझ लेनी चाहिए। विद्वानों में इन दोनों के बीच अंतर पर मतभेद रहा हैं। विस्तार में ना जाते हुए इतना स्पष्टीकरण पर्याप्त हैं, कि समीक्षा का अर्थ पुस्तक या किसी विधा विशेष कि अपनी एकल सीमाओं के स्तर से ही लिया जाता हैं, जबकि आलोचना का क्षेत्र व्यापकता रखता हैं और वह पुस्तक या विधा विशेष के परिक्षेत्र तक ही सीमित नहीं हो जाता हैं।

समान्यतः यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता हैं कि समीक्षा आलोचना विधा का उप विभाजन ही हैं क्योकि आलोचक विधा, लेखक और प्रवृतियों को केंद्र में रखकर चर्चा करता हैं, जबकि समीक्षा में उक्त तीनों कि चर्चा ना करके पुस्तक या विधा विशेष को केंद्र में रखकर समकालीन लेखन या रुझान के परिपेक्ष्य में वस्तु विशेष कि समीक्षा करता हैं संक्षेप में यह कहा जा सकता हैं कि आलोचना का क्षेत्र छोटा और किसी कृति-विशेष पर आधारित रहता हैं। ध्यान रखना है कि समीक्षा को रचना कि पुनः रचना या पुनः सृजन कहा जाता हैं।

इकाई 17 नाटक समीक्षा -'1' हैं जिसमें नाटक समीक्षा कि विशेषताओं, नाटक समीक्षक से अपेक्षाओं के साथ -साथ नाटक समीक्षा के मानदंडों का उल्लेख किया गया हैं। इन्हे पढ़कर आप निश्चित रूप से नाटक समीक्षा के विषय में भी बहुत कुछ जान सकेंगे। कुछ उदाहरण पढ़कर आप यह भी जान सकेंगे कि नाटक कि समीक्षा कैसे कि जाती है।

इकाई 18 नाटक समीक्षा -2 हैं। इस इकाई को पढ़कर आप यह पायेगे कि रंगमंच या थियेटर से स्वयं संबंधित रहने वाले समीक्षक और मात्र नाटक अध्येता समीक्षक कि समीक्षा का स्वरूप क्या औरकैसा रहता हैं। अतः सोद्देश्य रूप से समीक्षा सम्बन्धी दो इकाइयाँ यहाँ प्रस्तुत कि गई हैं। इस दूसरी इकाई में नाटक कि उत्पत्ति और परिभाषा के साथ नाटक के मूल तत्वों कि चर्चा भी की गई है। समीक्षा और नाट्य समीक्षक की योग्यताओं के साथ समीक्षा थियेटर या रंगमंचीय के कतिपय सिद्धांतों का परिचय भी मिलेगा। जिसमें वर्तमान में बहुचर्चित नाटकों की समीक्षा भी आप पायेगे।

इकाई19' फिल्म समीक्षा' से संबन्धित हैं इस इकाई को पढ़कर आप सिनेमा या फिल्म के सम्बन्ध में कुछ गहराई से जान सकेंगे की तथा जान सकेंगे उसकी समीक्षा एक स्वतंत्र विधा के रूप में किस प्रकार अपनाई जा सकती हैं। फिल्म समीक्षा के अनिवार्य तत्व एवं समीक्षक के महत्व से भी परिचित होंगे। कुछ विशेष फिल्म समीक्षाओं से भी परिचित हो सकेंगे।

इकाई 20 "कला समीक्षा" से संबन्धित हैं। इस इकाई के अध्ययन से आप कला समीक्षा के अभिप्राय समझ कर कला समीक्षा एवं कला की आलोचना में अन्तर कर सकेंगे और कला समीक्षा के महत्व से भी परिचित हो सकेंगे।यही नहीं, कला समीक्षा के विभिन्न पक्षों तथा कला समीक्षक के गुणों एवं कला समीक्षा की विशेषताओं से भी परिचित हो सकेंगे

इकाई21 " पुस्तक समीक्षा" से संबन्धित हैं इसमें पुस्तक समीक्षा क्या हैं, पुस्तक समीक्षा के प्रकार, पुस्तक समीक्षा का इतिहास, पुस्तक समीक्षा के विविध अंग, पुस्तक समीक्षा की तैयारी और प्रस्तुति तथा पुस्तक समीक्षा की विशेषताएँ आदि बिन्दुओं पर विस्तृत प्रकाश डाला गया हैं। इसमें आप कुछ पुस्तक-समीक्षाएं भी पढ़ पाएँगे।

उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर यह निश्चित हैं कि आप समीक्षा और उसके विविध विधागत स्वरूपों से परिचित हो चुके हैं तथा यह विश्वास किया जा सकता हैं कि इस सैद्धान्तिक अध्ययन के उपरांत आप व्यावहारिक रूप में जब इस प्रकार कि समीक्षा से जुड़ेगे तो अभ्यास कि निरंतरता से आप एक उत्तम कोटि के समीक्षक बन सकते हैं। आवश्यकता आपके स्वतः प्रयासों एवं समीक्षा प्रवृत्ति कि गहनता की हैं। जितना श्रम और अभ्यास विकासित होगा, विविध समीक्षा स्रोत भी सुस्थिर हो सकेंगे और आप समीक्षा क्षेत्र में नाम कमा सकेंगे।

इकाई 17 नाटक समीक्षा- 1

इकाई की रूपरेखा

17.0 उद्देश्य
17.1 प्रस्तावना
17.2 समीक्षा और आलोचना
17.3 समीक्षा क्या है
17.4 पत्रकारिता और समीक्षा
17.5 नाटक समीक्षा की विशिष्ट स्वरूप
17.6 नाट्य-समीक्षक रे अपेक्षाएँ
17.7 नाटक समीक्षा के मानदण्ड
17.8 नाटक की समीक्षा के कुछ उदाहरण
17.9 नाटक और रंगमंच रो व्यावहारिक संपर्क
17.10 नाटक और रंगमंच की पत्रिकाएँ
17.11 सारांश
17.12 निबन्धात्मक प्रश्न

17.0 उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ को पढ़कर आप बता सकेंगे कि : -

- समीक्षा क्या है?
- नाट्य समीक्षा किस तरह विशिष्ट है?
- नाट्य समीक्षक से क्या अपेक्षाएँ हैं?
- नाट्य समीक्षा के मानदण्ड क्या होने चाहिए? और
- नाट्य समीक्षा कैसे की जानी चाहिए?

17.1 प्रस्तावना

पिछले पाठों में आप पुस्तक समीक्षा, फिल्म समीक्षा आदि के विषय में पढ़ चुके हैं। प्रस्तुत पाठ, नाटक समीक्षा के विषय में है। इस पाठ में आपको पत्र-पत्रिकाओं में नाटक समीक्षा की आवश्यकता और महत्व के विषय में जानकारी मिलेगी। साथ ही यह भी पता चलेगा कि समीक्षा क्या होती है तथा नाटक की समीक्षा की क्या विशेषताएँ, अपेक्षाएँ, कठिनाइयाँ और समस्याएँ हैं। नाटक की समीक्षा किस प्रकार की जानी चाहिए तथा नाटक के समीक्षक से क्या अपेक्षित है, यह भी आप इस पाठ में पढेंगे।

17.2 समीक्षा और आलोचना

साहित्य अथवा कला की कृति और कृतिकार के विश्लेषण-विवेचन और मूल्यांकन के लिए हिंदी में ' आलोचना ' (समालोचना) और 'समीक्षा' दो शब्द प्रचलित हैं। अंग्रेजी में इनके लिए क्रमश: Criticism और review शब्द हैं। प्रश्न उठता है कि क्या ये दोनों शब्द समानार्थी हैं अथवा इनमें

कोई अन्तर है। व्यापक रूप में दोनों शब्द समानार्थी हैं जैसे हम कहें 'हिन्दी आलोचना' अथवा 'हिन्दी समीक्षा' तो दोनों से हमारा आशय एक ही होगा। किन्तु प्रयोग की दृष्टि से इनमें बारीक अन्तर यह है कि आलोचना शब्द अपेक्षाकृत व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होता है। समीक्षा का अर्थ प्राय: कृति की समीक्षा तक ही सीमित होता है जैसे पुस्तक समीक्षा, कला समीक्षा, नाट्य समीक्षा, आदि जबकि आलोचना का विस्तार रचना, रचनाकार, युग अथवा प्रवृति तक होता है। इस अर्थ में समीक्षा आलोचना के भीतर ही एक अंग के रूप में समाहित हो जाती है। जब हम यह कहते हैं कि 'समकालीन साहित्य की समीक्षा अथवा प्राचीन साहित्य की समीक्षा आलोचना की पहली जिम्मेदारी है तब हम पुस्तक समीक्षाओं के बीच से आलोचना का विकास देख रहे होते हैं।

उल्लेखनीय तथ्य यह भी है कि हिन्दी में आलोचना का रात्रपात पुस्तक समीक्षाओं से ही हुआ है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'नाटक' शीर्षक निबन्ध लिखा था, फिर भी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उस हिंदी आलोचना का सूत्रपात नहीं माना। उन्होनें हिन्दी आलोचना के सूत्रपात का श्रेय बालकृष्ण भट्ट और चौधरी बदरीनारायण प्रेमघन को ही दिया जिन की समीक्षाएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई थीं। आचार्य शुक्ल ने लिखा है- ' समालोव्य पुस्तकों के विषय का अच्छी तरह विवेचन करके गुण-दोष के विस्तृत निरूपण की चाल उन्हीं ने चलाई। नतीजा यह हुआ कि समालोचना काव्य सिद्धान्त निरूपण रो स्वतन्त्र एक विषय ही हो गया।

इस दृष्टि से समीक्षा और आलोचना एक-दूसरे के निकटवर्ती, परस्पर समान अर्थवाची शब्द हैं. जो अकर पर्याय के रूप में प्रयुक्त होते हैं। किन्तु खारा संदर्भो मे, खास शब्द-युग्म के रूप में ही प्रयुक्त होते हैं। 'पुस्तक समीक्षा', के स्थान पर 'पुस्तक आलोचना शब्द का प्रयोग उपयुक्त नहीं होगा। इसी तरह 'कला आलोचना' अटपटा प्रयोग होगा। लेकिन जिस पुस्तक की समीक्षा की जा रही है उसे समीक्ष्य पुस्तक न कहकर आलोच्य पुस्तक ही कहेंगे।

नाटक की समीक्षा में विषय में जानने और नाटक की समीक्षा करने रो पहले यह जानना आवश्यक है कि समीक्षा क्या है।

17.3 समीक्षा क्या है?

समीक्षा जीवन तथा राजन के सत्य का साक्षात्कार है। उसका क्षेत्र उतना ही व्यापक है जितना जीवन का। जीवन को भांति समीक्षा निरन्तर गतिशील रहती है और देश और काल के अनुसार उसका रूप बदलता रहता है। राजन और समीक्षा के मूल्य परस्पर टकराहट के साथ विकसित और संशोधित होते रहते हैं। जैसे-जैसे समाज और राजनीति बदलती है अथवा ज्ञान-विज्ञान का समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र बदलता हे, वैसे-वैसे समीक्षा दृष्टि भी बदलती रहती है। समीक्षा का सामान्य अर्थ है - किसी वस्तु, व्यक्ति, कृति, घटना, समस्या, प्रश्न. विशिष्ट साहित्य आदि पर सोचना. समझना. देखना-परखना, निर्णय करना. आस्वादन ओर मूल्य निर्धारण। इस प्रकार समीक्षा में तीन महत्वपूर्ण बातें है।

1. कलाकृति का आस्वादन
2. विवेचन-विश्लेषण की गहनता
3. मूल्य निर्धारण की क्षमता

सामाजिक दृष्टि से समीक्षा के अन्तर्गत जीवन की मान्यताओं. धारणाओं, आदर्शो और जीवन मूल्यों को समझने की दृष्टि निहित रहती ईं। कुछ मूल्य ऐसे होते हैं जिनकी रक्षा हम हर कीमत पर करते हैं. जैसे स्वतन्त्रता। कुछ मूल्य ऐसे होते हैं जिन्हें हम सामाजिक आचरण के लिए निर्धारित करते हैं, जैसे नैतिक मूल्य। इसी अर्थ में समीक्षा और सृजन दोनों ही सांस्कृतिक प्रक्रिया के अंग हैं। विशिष्ट अर्थ में समीक्षा के अन्तर्गत साहित्य सम्बन्धी बौद्धिक विश्लेषण और अर्थ-संदर्भो के नवीन हाशियों का विवेचन किया जाता है। इस प्रकार समीक्षा कलाकृति के सम्पूर्ण सौंदर्य (आंतरिक और बाह्य, अनुभूति और अभिव्यंजना, कथ्य ओर प्रस्तुति का ढंग) का मूल्यांकन करती है। रचना प्रक्रिया, जीवनादर्श. प्रतिपाद्य, युग-चेतना, भाषा, सृजन- क्षमता बिम्ब, प्रतीक, लय, विचार-विशेष का प्रभाव-झुकाव, पात्रों की अन्तर मानसिकता से ध्वनित सत्य -इन सभी पर समीक्षा बौद्धिक प्रकाश डालती है। इसलिए समीक्षा को ' रचना की रचना' कहा जाता है। संक्षेप में कह सकते हैं कि समीक्षा रचना की पुनर्रचना यानी राजन के बाद पुनर्राजन है।

व्यापक अर्थ में रचना की तरह समीक्षा भी सर्जनात्मक होती है क्योंकि समीक्षक रचना के अर्थ को खींचकर पुन. उन्हें अपन मूल्यों- मानों रो निरखता-परखता है और यह निर्धारित करता है कि कलाकृति की दिशा और दृष्टि क्या ह। इस रूप में समीक्षा कलाकृति के अर्थ-सदर्भो का ही उद्घाटन नहीं करती, अर्थों को नई चेतना भी जाग्रत करती है।

समीक्षा को क्रियाकल्प कहा गया है और समीक्षक को क्रिया-कल्पविद्। दण्डी ने 'काव्यादर्श' में क्रियाकल्प के लिए क्रियाविधि शब्द का प्रयोग किया है और बाद में इसे कार्य-कारण विधि का पर्याय भी मान लिया गया है।

एक व्यापक अर्थ में संपूर्ण सृजन जीवन की समीक्षा है। इसी अर्थ में मैब्यू आर्नोल्ड ने काव्य अथवा सृजन को जीवन की आलोचना कहा है। जैसे रचनाकार जीवित तथ्यों, जीवनानुभवों से गुजरे बिना प्रभावशाली रचना नहीं कर सकता, वैसे ही समीक्षक जीवन और कृति के अनेक पक्षों को गहराई और व्यापकता से समझे बिना मूल्यांकन नहीं कर सकता। एक संकुचित अर्थ में समीक्षा अथवा आलोचना को दोष- दर्शन अथवा छिद्रान्वेषण का भी पर्याय मान लिया जाता है। व्यावहारिक समीक्षा से अपरिचित लोग कभी-कभार कृति के आस्वादन से उत्पन्न प्रशंसा अथवा दोष-दर्शन को ही समीक्षा मान लेते हैं।

एक अन्य दृष्टि से और बहुत सीमित अर्थ में समीक्षा का प्रयोग पुस्तक परिचय, सरसरी तौर पर रचना पर सम्मति या किसी कृति-विशेष के गुण-दोष विवेचन को समीक्षा कह दिया जाता है। साधारण अर्थ में समीक्षा का प्रयोग किसी कृति की व्याख्या, टीका, भाष्य, मीमांसा आदि रूपों में मिलता है। इस प्रकार, समीक्षा का अर्थ रचना की अनुभूतियों की सामाजिक उपयोगिता, सौंदर्य दृष्टि का निरूपण, अनुभव की विशदता एवं उसके कलात्मक संयोजन की व्याख्या में मिलता है। इस प्रकार, समीक्षा किसी कलाकृति की महत्वपूर्ण एवं विशिष्ट विशेषताओं को समझने का एक व्यापक प्रयत्न है।

समीक्षा और समीक्षक की सबसे बडी पहचान सहृदयता अथवा कृति के सौंदर्य ग्रहण की क्षमता है। इस कार्य के लिए उसमें बौद्धिक ईमानदारी के साथ लोक एवं शास्त्र के अनुशीलन से विकसित विवेक की शक्ति रहनी चाहिए। किसी कृति का ज्ञान कृति के साथ एकात्म हुए बिना प्राप्त नहीं हो सकता। इस बात को ही भारतीय काव्यशास्त्र में साधारणीकरण सिद्धान्त स्पष्ट करता है। इसलिए समीक्षक में बौद्धिक तर्कशीलता और सौंदर्य आस्वादन की क्षमता का स्तर काफी विकसित होना चाहिए। इन गुणों के अभाव में समीक्षा वस्तुनिष्ठा के साथ मूल्य निरूपण नहीं कर सकती। समीक्षा एक प्रकार का हृदय

संवाद है जो कृति और पाठक के बीच स्थापित होता है। समीक्षा कृति में अंतर्प्रवेश है और गंभीर चिंतन की क्रिया से जटिल, संश्लिष्ट अनुभव को विश्लेषित करने की क्षमता है। मूल्यांकन एकांगी न हो जाए, इसलिए समीक्षक कई कोणों से कृति की समीक्षा करता है। जब कोई समीक्षक किसी विचारधारा-विशेष से ही कृति का मूल्यांकन करता है तब उसमें वैचारिक फार्मूले प्रमुख हो जाते हैं और समीक्षा राजनीतिक प्रोपेगंडा हो जाती है। किसी भी राजनीतिक विचारधारा की गुलामी में जीने वाले समीक्षक से तटस्थ और वैज्ञानिक की अपेक्षा समाप्त हो जाती है।

समीक्षा का एक गुण या धर्म है- निष्पक्षता एवं तटस्थता। कृति की सार्थकता और प्रासंगिकता का निर्धारण। नाटक हो अथवा कहानी की समीक्षा - उसमें कलात्मक सौंदर्य का स्वरूप, वस्तु संगठन संरचना के साधन, रचना-प्रक्रिया, रचना-विधि, प्रयोजन, प्रेरणा, प्रभाव, मौलिकता आदि का विवेचन करना पड़ता है। इसलिए बिना तुलना के समीक्षा नहीं होती। इसलिए हम परम्परा से प्राप्त और नई कृतियों के साथ तुलना करके ही किसी निष्कर्ष पर पहुँच पाते हैं। इस प्रकार राजन की तरह, समीक्षा जागरूक मन की मूल प्रवृत्ति है जिसके दो प्रधान कार्य हैं - व्याख्या और निर्णय। लेकिन समीक्षक के लिए यह समझना बहुत जरूरी है कि साहित्य सम्बन्धी हर संभव अध्ययन के बीच समीक्षा अथवा आलोचना का स्पष्ट बोध आवश्यक है। कारण, अनुसंधान, पाण्डित्य, सिद्धान्त-निरूपण, इतिहास आदि समीक्षा अथवा आलोचना के लिए उपयोगी तो हैं पर वे ठेठ आलोचना नहीं हैं।

17.4 पत्रकारिता और समीक्षा

नाटक समीक्षा, पत्रकारिता का एक महत्वपूर्ण अंग होता है। पत्रे-पत्रिकाओं में साहित्य और संस्कृति दैनिक-साप्ताहिक-द्विसाप्ताहिक कॉलम होते हैं जिनमें पुस्तक समीक्षा, नाटक समीक्षा, कला समीक्षा आदि के साथ-साथ कविता-कहानी आदि भी प्रकाशित होते हैं। इनके माध्यम से साहित्य-संस्कृति जगत् के समाचार पाठकों को मिलते रहते हैं। इन स्तम्भों का महत्त्व इस बात में है कि एक ओर तो यह साहित्यिक- सांस्कृतिक गतिविधियों की खबर से पाठकों को अवगत कराते रहते हैं दूसरी ओर पाठकों की रुचि के निर्माण में इनकी भूमिका होती है। पुस्तक समीक्षा, विभिन्न विषयों और ज्ञान-क्षेत्रों में छपने वाली किताबों की सूचना देने के साथ-साथ उनके कथ्य और ज्ञान क्षेत्र में योगदान के बारे में पाठकों को अवगत कराती हैं। ' नाट्य-समीक्षा अथवा 'कला-समीक्षा' भी इसी तरह रुचि-संस्कार का काम करती है। वे पाठकों में पुस्तक को पढने या नाटक को देखने, कलाकृतियों, नृत्य-संगीत आयोजनों को देखने की जिज्ञासा तो पैदा करती हैं, इन कृतियों को समझने-सरहने की अभिरुचि को भी प्रभावित करती हैं। कई बार ऐसा भी होता है कि नाटक या कला को देखने जाना या न जाना भी पाठक-दर्शक इन समीक्षाओं के आधार पर तय करते हैं।

दूसरी ओर, ये समीक्षाएँ साहित्यिक-सांस्कृतिक कृतियों के गहन और व्यापक मूल्यांकन के लिए आधार को अग्रसर करती हैं तथा व्यावहारिक आलोचना के विकास और दिशा निर्धारण करती हैं। पुस्तक के प्रकाशित होने के अथवा नाट्य- प्रदर्शन के तत्काल पश्चात् उस पर समाचारपत्र-पत्रिकाओं में पाठक-दर्शक-समीक्षक की तात्कालिक किन्तु प्रामाणिक प्रतिक्रिया निहित होती है जो समय-विशेष के प्रभाव-दबावों-समीक्षक युक्त होने के बावजूद काफी हद तक मौलिक होती है। अत: इसमें कृति-विशेष के सम्बन्ध में उठाए गए बुनियादी प्रश्नों और निष्कर्षों का महत्व इस दृष्टि रो होता है कि वे राजन और रंगकर्म की दिशा निर्धारित करने का काम करते है। ऐसा नहीं कि ये प्रश्न और इनके माध्यम

से हुआ दिशा-निर्धारण सदैव उपयुक्त और रचनात्मक ही होता है बल्कि कमी-कभी तो इसके माध्यम से उत्पन्न विवाद साहित्य- संस्कृति को काफी हद तक गुमराह भी कर देते हैं, जैसा कि जयशंकर प्रसाद के नाटकों को लेकर हुआ भी। चंद्रगुप्त नाटक एवं उसकी प्रस्तुति की समीक्षा ने तथा कृष्णानन्द गुप्त की पुस्तक 'प्रसाद के दो नाटक' ने इस नाटककार को लेकर जो भ्रांतियाँ पैदा कर दीं, उन्हें दूर होने में लगभग चार दशक लगे। लेकिन इन समीक्षकों ने हिन्दी में रंगकर्म और रंग-चेतना के उस अभाव को इंगित किया (भले ही अप्रत्यक्ष रूप से) जिसके चलते नाट्यालोचन के मानदण्ड ही स्पष्ट न थे।

व्यावहारिक कृति-समीक्षा के विकास में पत्रकारिता के योगदान का महत्व इस बात से समझा जा सकता है कि साहित्य समीक्षा और हिन्दी पत्रकारिता का आरम्भ से ही बहुत गहरा रिश्ता रहता है। अखबारों में छपी नाटक समीक्षा का महत्व इस बात में तो होता ही है कि उसके आधार पर बहुत से दर्शक नाटक देखने को प्रेरित होते हैं या देखने का विचार छोड देते हैं। स्वस्थ एवं समर्थ नाटक समीक्षा अपने समय के नाटक और रंगमंच को दिशा और दृष्टि प्रदान करती है। नाटक लेखकों और रंगकर्मियों को उनकी खामियों और उन खामियों के सुधार का मार्ग प्रशस्त कर सकती है। इसके अलावा, अखबार में छपने वाली समीक्षा, नाटक और नाटककार अथवा अभिनेता के विषय में अभिमत निर्माण में योगदान देता है। नाटककार अथवा अभिनेता का भविष्य उस पर निर्भर कर सकता है। प्रसाद के नाटकों के मंचन के संबंध में दैनिक ' आज' तथा अन्य पत्रों में छपी समीक्षाओं के आधार पर प्रसाद के नाटकों को अनभिनेय मान लिया गया।

नाट्य-समीक्षा का महत्व एक ओर दृष्टि से भी है। नाट्य-मंचन जीवंत और क्षण-जीवी व्यापार होता है। पत्र-पत्रिकाओं गे छपी समीक्षा उस मंचन का सामयिक दस्तावेज होती है। यदि यह समीक्षा न हो तो नाट्य-प्रदर्शन की स्मृति दर्शकों के साथ ही चली जाती है, उसका कोई प्रमाण अथवा इतिहास हमारे पास नही रह जाता। परिणामत: समय-विशेष में रंगमंच के स्वरूप, रंगकर्म और रंग-संस्कार को जानने और समझने का एक ठोस और महत्वपूर्ण साधन हमारे हाथ से निकल जाता है।

हिन्दी समीक्षा के आरम्भ काल से ही नाट्य-समीक्षा से उसका गहरा सम्बन्ध रहा है। पण्डित बालकृष्ण भट्ट ने अपने पत्र 'हिन्दी प्रदीप' में ' चन्द्रहास ', 'सबके गुरु गोवर्धन दास' के अभिनय की आलोचना. 'रणधीर प्रेम मोहिनी' नाटक के अभिनय की आलोचना, 'मुद्राराक्षस' नाटक की आलोचना, रामलीला नाटक मण्डली द्वारा अभिनय की आलोचनाएँ छापीं। उनके द्वारा बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' द्वारा प्रकाशित ' संयोगिता स्वयंवर' की आलोचना का ऐतिहासिक महत्व है- समीक्षा की दृष्टि रो भी ओर समीक्षा के मानदण्डों की दृष्टि से भी। नीचे उनके कुछ उद्धृत अंशों पर ध्यान दीजिए-

लाला जी, यदि बुरा न मानिये तो एक बात आप से धीरे से पूछें कि आप ऐतिहासिक नाटक किसको कहेंगे? क्या किसी पुराने समय के ऐतिहासिक पुरावृत्त का छाया नाटक लिख डालने से ही वह ऐतिहासिक हो पर यदि ऐसा है तो गप्प हाँकने वाले दास्तानगो और नाटक के ढंग में कुछ भी भेद न रहा। किसा समय के लोगों का क्या दशा थी, उनके आभ्यांतरिक भाव किस पहलू पर ढुलके हुए थे. अर्थात् उस समय पात्र के भाव (स्ट्रिट ऑफ दि टाइम्स) क्या थे? इन सब बातों के ऐतिहासिक रीति पर पहले समझ लीजिए तब उनके दर्शाने का भी यत्न नाटकों द्वारा कीजिए। केवल क्लिष्ट श्लेष बोलने से तो ऐतिहासिक नाटक के पात्र क्या वरन् एक प्राकृतिक मनुष्य की भी पदवी हम आपके पात्रों को

नहीं दे सकते बल्कि मनुष्य के बदले आपके नाटक पात्रों को नीरस और रूखे से रूखे अर्थात्रन्यास गढ़ने की कल (मशीन) कहें तो अच्छा होगा। '

हिन्दी प्रदीप, अप्रैल, 1882

(संयोगिता स्वयंवर की सच्ची आलोचना)

X X X X

यदि यह संयोगिता स्वयंवर पर नाटक लिखा गया तो इसमें दृश्य स्वयंवर का न रखना मानो इस कविता का नाश कर डालना है क्योंकि यही इसमें वर्णनीय विषय है और अभिनय में मुख्य आनन्ददायी एवं कवि के कवित्व दिखाने का मौका। न एतवार तो 'रघुवंश'. ' अनेक रामायण', 'सीता स्वयंवर' आदि में देख लीजिए। फिर इसमें कथा की दो प्रणाली थीं अर्थात् मुख्य द्वेष और दूसरी प्रीति सो प्रथम तो कवि ने नि:शेष ही कर डाली और दूसरी का उचित रीति से निर्वाह नहीं कर सका। पूर्वानुराग का तो नाम ही नहीं लिया, नायिका की प्रीति की कहीं झलक ही नहीं दिखाई। दिखाई भी तो बहुत ही बेहूदे तरहा'

-'प्रेमघन सर्वस्व', द्वितीय भाग, पृष्ठ 424

X X X X

प्रेमघन जी नाटक का प्राणतत्व मानते थे - रस। उन्होंने 'संयोगिता स्वयंवर' आलोचना में लिखा - 'रस इसमें प्रधान दो थे वीर और श्रृंगार। अंगी कौन है यह कौन कहे? सच तो यह है कि कोई रस कहीं पर उत्तमता से उदय नहीं हुआ। चित्त का चित्र किसी का ठीक नहीं उतारा गया और जहाँ इसका उद्योग भी किया वीर को ही हिजड़े की पोषाक पिन्हाई और सती व स्वीकार को वेश्याओं के श्रृंगार करा दिए। जहाँ श्रृंगार का काम पडा, आपने नीति और धर्म का उपदेश दिया। जहां वीर का मौका आया वीभत्स किया। निदान साधारण रीति से ग्रंथ के अन्य अंगों की छवि दिखाना चाहते हैं उसमें भी यदि शब्दों की छोटी-छोटी भूल पर या छंदों की बनावट के दोषों को दिखावें तो प्रति पंक्ति नहीं प्रति पृष्ठ तो कोई सर्वांश शुद्ध न मिलेगा। '

- प्रेमघन सर्वस्व', द्वितीय भाग, पृष्ठ 424

X X X X

इस तरह नाट्य-समीक्षा कोरी साहित्यिक समीक्षा नहीं है। पहले तो नाटक ही मात्र साहित्य नहीं है, उसके भीतर अन्य बहुतसी प्रविधियों और कलाओं को स्थान मिलता है। इसलिए नाट्क-समीक्षा एक विशिष्ट ढंग की व्यावहारिक समीक्षा है जिसके भीतर सैद्धान्तिक समीक्षा की दृष्टियाँ और विचार-पद्धतियाँ तो कार्य करती हैं उसका कार्य सिद्धान्त में बाँधना नहीं है न सिद्धान्त निर्माण। उसका कार्य तो सामाजिक या दर्शक की चेतना को प्रबुद्ध करना है।

पुरानी नाट्य- समीक्षा नाट्यशास्त्र की परम्परा से उत्पन्न सैद्धान्तिक मान्यताओं को लेकर चलती थी, जिसमें वस्तु, नेता और रस की विशिष्टताओं पर ध्यान दिया जाता था। यह एक प्रकार से उत्कर्षमूलक नाट्क-समीक्षा है। जिसका प्रथम महत्वपूर्ण तत्व कथा-वस्तु अर्थात् महत्वपूर्ण अंतर्वस्तु ही अपनी वैचारिक चेतना से दर्शक को आनंदित या दृष्टि सम्पन्न कर सकती है। कथा-वस्तु को लेकर देश-विदेश में जो विचार संवाद हुआ है उससे निष्कर्ष यही निक्ला है कि नाटक का प्रधान तत्व है कथा-वस्तु। कथा-वस्तु के बिना नाटक हो ही नहीं सकता। भारतीय नाट्यशास्त्र में कथा-वस्तु के गठन

और कौशल पर जो विशेष ध्यान दिया गया है, उसके पीछे तर्क यही है कि उसकी कथा-वस्तु का गठन इस कौशल से किया गया हो कि उसकी विशिष्ट प्रभान्विति दर्शक या सामाजिक को बाँध सके।

17.5 नाटक समीक्षा का विशिष्ट स्वरूप

नाटक-समीक्षा के विषय में बहुत ही रोचक एवं महत्वपूर्ण बात यह है कि साहित्य-चिंतन एवं सिद्धान्त-विवेचन की- प्रक्रिया नाटक के विवेचन के साथ शुरू हुई। 'नाट्यशास्त्र' और 'Poetics' दोनों में ही साहित्य-सिद्धान्त विवेचन के केंद्र में नाटक रहा है। कहा जा सकता है कि सैद्धान्तिक समीक्षा और साहित्य-सृजन-प्रक्रिया के विवेचन का नाटक से गहरा और पुराना सम्बन्ध रहा है। ध्यान देने की बात यह है कि यह सम्बन्ध अनायास ही नहीं बना। वास्तव में इसका मूलाधार नाटक विधा का विशिष्ट स्वरूप है। दृश्य होने के कारण नाटक द्वारा दिया गया संदेश बहुत स्पष्ट और प्रभावपूर्ण तरीके से दर्शक तक पहुँचता है। प्रदर्शनपरक माध्यम होने के कारण यह मानवीय मनोभावों की अभिव्यक्ति और सम्प्रेषण का सबसे महत्वपूर्ण और प्रभावी माध्यम होता है। दृश्य होने के कारण इसकी पहुँच सभी लोगों, विद्वत-जन से लेकर जन-सामान्य तक होती है। इसकी प्रस्तुति और दर्शन दोनों ही सामूहिक होते हैं। अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण नाटक को एक ओर तो 'चाक्षुष यह कहा गया है और दूसरी ओर ' पंचम वेद' (यानी जन-सामान्य के लिए लिखा गया वेद - 'लोक वेद') कहा गया है।

नाटक का बहु-आयामी और सामूहिक स्वरूप उसकी समीक्षा के स्वरूप को भी प्रभावित करता है। नाटक ही साहित्य की एक ऐसी विधा है जिसमें विभिन्न कलाओं, संगीत, नृत्य, चित्र, स्थापत्य कला के साथ ही काव्य और अभिनय का भी समावेश होता है। अन्य साहित्यिक विधाओं या ललित कलाओं की समीक्षा कृति की समीक्षा होती है। किन्तु नाट्य-समीक्षा का अर्थ है- नाटक और रंगमंच की समीक्षा, सैद्धान्तिक और व्यावहारिक सौंदर्यशास्त्र का निर्धारण, आकलन और मूल्यांकन। नाटक की रचना-प्रक्रिया उसके मंचन के साथ पूरी होती है।

अत: उसके तीन अनिवार्य अंग हैं-

1. नाटक का आलेख
2. नाट्य-मंचन अथवा प्रस्तुति; और
3. दर्शक

इसी अर्थ में नाटक एक सामूहिक कला होती है। इनमें प्रथम नाटककार द्वारा सम्पन्न होता है तथा दूसरा निर्देशक- अभिनेताओं-मंच सज्जाकार, प्रकाश-ध्वनि व्यवस्था आदि के द्वारा। तीसरे को कोई कार्य नही करना होता। लेकिन वह सर्वाधिक महत्वपूर्ण होता है, क्योंकि प्रथम दो के संपूर्ण प्रयास तीसरे के लिए ही होते हैं। नाट्य-समीक्षा इन तीनों अंगों को दृष्टि में रखकर चलती है और नाट्य-समीक्षक इस तीसरे अंग का ही एक हिस्सा होता है। डॉ. नगेन्द्र के शब्दों में कहें तो- 'समीक्षक ऊँचे दर्जे का प्रेक्षक होता हे। ' यानी वह अन्य दर्शकों की तुलना में अधिक जागरूक और प्रबुद्ध होता है। (अनामिका' संगोष्ठी में पठित ' नाटक का दर्शक और समीक्षक' निबन्ध)

नाटक की समीक्षा और मूल्यांकन एक साहित्यिक कृति के रूप में करना मात्र पर्याप्त नहीं होता। नाट्य-रचना में निहित प्रस्तुति-संभावनाओं और मंच पर उसकी प्रस्तुति की समीक्षा और मूल्यांकन भी उसमें शामिल होता है। साथ ही, प्रस्तुति के प्रति दर्शक की प्रतिक्रिया (यानी दर्शक पर प्रस्तुति का क्या प्रभाव पडा है) भी इस समीक्षा का अंग होती है। रूपकर कला (प्रस्तुतिपरक कला) होने की दृष्टि

से नाटक की समीक्षा का एक और विशिष्ट पक्ष यह होता है कि नाट्य-सृजन और आस्वाद की प्रक्रिया साथ-साथ चलती है। कहने का तात्पर्य यह है कि अन्य साहित्य विधाओं में पुस्तक अथवा चित्रकला में कृति का सृजन पूरा हो जाने के पश्चात् वह पाठक और मर्मज्ञ आलोचक के हाथ में आती है। वह पढने के लिए उनके पारा मौजूद रहती है, उसे वे एक बार में या कई बैठकों में पूरा पढ़ सकते हैं- चाहें तो उसे बार-बार पढ सकते हैं। किन्तु नाट्य प्रस्तुति जीवंत व्यापार है। अत: वह इस अर्थ में क्षण-जीवी है नाटक प्रदर्शन पूरा होने के साथ समाप्त हो जाता है। अत: समीक्षक को प्रस्तुति के दो-ढाई घंटों के भीतर ही नाटक देखना और उस पर अपनी प्रतिक्रिया निर्मित करना होता है।

दर्शक के रूप में प्राप्त हुए समग्र नाट्यानुभव को आत्मसात करते हुए वह अपनी समीक्षाबुद्धि और मूल्यांकन-दृष्टि को जागरूक रखता है। नाटक देखने के बाद उसे जल्दी ही उसकी समीक्षा तैयार कर लेनी होती है। यह अपने आप में काफी जटिल काम है। नाटक देखते वक्त अपनी प्रतिक्रिया को नोट कर लेना संभव नहीं होता और नाटक देख चुकने के बाद स्मृति के आधार पर सभी प्रतिक्रियाओं को सही-सही शामिल करते हुए उनके आधार पर विवेचनमूल्यांकन कठिन होता है। यदि कार्य क्षण में ज्यादा समय लगाया जाए तो स्मृति के धोखा देने की संभावना रहती है और बहुत शीघ्रता करने पर विवेचन मूल्यांकन में जल्दबाजी का खतरा बना रहता है। इसके अलावा, नाटक की समीक्षा अकार प्रस्तुति के अगले दिन या उससे अगले दिन अखबार में छपती है। इसलिए समीक्षक को रुककर सोचने-समझने का अवसर नहीं मिलता। वह प्रदर्शन के बाद तत्काल बैठकर समीक्षा लिखता है और जल्दी से जल्दी (अक्सर रात कें 11.00 बजे से पहले-पहले) उसे अखबार के कार्यालय में पहुँचाता है। कहना चाहिए कि एकदम भागमभाग की स्थिति रहती है। ऐसी स्थिति में अखबार में छपने वाली नाट्य-समीक्षा अथवा रिव्यू दर्शक के मन पर पड़ने वाले प्रभाव की तात्कालिक अभिव्यक्ति होती हैं। इसके अच्छे और बुरे दोनों ही पक्ष हैं। अच्छा पक्ष यह है कि तात्कालिक प्रभाव में समीक्षक की ईमानदार प्रतिक्रिया शामिल होती है। बुरा पक्ष यह है कि इसमें विचार-विश्लेषण की कमी रहती है और यह एक तरह का जल्दबाजी में हुआ मूल्यांकन होता है।

पुस्तक हम अकेले में पढ़ते हैं, कला-वस्तुएँ भी अक्सर अकेले देखते हैं - जबकि नाटक देखना सामूहिक अनुभव होता है। अत: नाट्य-समीक्षक को अन्य दर्शक से तटस्थ बने रहना संभव नहीं होता। उसकी समीक्षा-दृष्टि में प्रेक्षागृहों में बैठे अन्य दर्शकों की सामूहिक साझेदारी होती है। दर्शकों की तात्कालिक प्रतिक्रिया के साथ समीक्षक भी अक्सर बह जाता है। परिणामत: समीक्षा के लिए जैसी वस्तुनिष्ठता अपेक्षित होती है, वैसी कई बार उसमें नहीं आ पाती। बहुत से नाटक ऐसे होते हैं, जो रंगमंच पर काफी सफल होते हैं, किन्तु तात्कालिक अपील के बावजूद उनमें कालजयी अपील नहीं होती यानी उनका कथ्य, उसमें निहित संदेश का स्थायी अथवा शाश्वत मूल्य नहीं होता। दर्शकों पर तात्कालिक प्रभाव के चलते यदि समीक्षक दोनों तरह के नाटकों की स्तरीय में अन्तर नहीं करता और केवल रंगमंचीय अथवा तात्कालिक महत्व के नाटक को वरीयता देता है तो निश्चय ही वह मूल्यांकनपरक भूल करता है।

सामूहिक कला अथवा बहु-आयामी विधा होने के कारण नाटक को कुछ समस्याओं का सामना भी करना पडता है। शब्द को अभिव्यक्ति का माध्यम बनाने के कारण वह साहित्य का एक रूप है। लेकिन वह केवल साहित्य नहीं। दृश्य होने के कारण वह अपेक्षाकृत स्थूल और इंद्रिय-ग्राह्य होता है। इस तरह, हम उसमे निहित भाव का आस्वाद शब्द और दृश्य दोनों तरह से करते हैं और वह हमारे

चित्त का परिष्कार-संस्कार करता है। एक तरह से हमारा मनोरंजन करता है। किन्तु वह नितांत मनोरंजन की वस्तु नहीं। वाणी एवं कार्य के अनुकरण, गीत-नृत्य तथा अन्य कलाओं के समावेश से वह मनोरंजन करता है और भाषा की सम्प्रेषण- शक्ति से भावोदीप्त और भाव-संस्कार करता है। अत: नाट्य-समीक्षा के मानदण्ड निर्धारित करते समय नाटक के विशिष्ट स्वरूप को ध्यान में रखना होता है। नाटक में काव्यानुभूति की गहनता भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त होती है। अपनी इसी विशेषता के कारण नाटक एक साहित्यिक विधा है।

दूसरी ओर, वह अभिनेताओं की कल्पनामूलक सर्जनात्मक प्रतिभा के माध्यम से दर्शक-वर्ग तक पहुँचता है। अभिनेताओं के इस कार्य में अन्य सृजनशील कर्मी और शिल्पी सहायक होते हैं। इस प्रकार, नाटककार के अतिरिक्त उसमें निर्देशक, अभिनेता. रंग-शिल्पी तथा समूह के रूप मे उपस्थित दर्शक शामिल होते है। इसलिए नाटक का मूल्यांकन इन सभी तत्वों की सही और संतुलित जाँच के बिना करना अनुपयुक्त है। ध्यान रखने की बात है कि नाटक पर लिखे गए प्राचीनतम ग्रंथ ' नाट्यशास्त्र' में नाट्य-रचना-सिद्धान्तों को प्रधानता दिए जाने के बावजूद अभिनय, नृत्य, संगीत. वाद्य, रंग-मण्डप, रंग-सज्जा आदि पर विस्तृत चर्चा है और यह स्पष्ट कहा गया है कि -

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
नासौ योगोन तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते।।

अर्थात् ऐसा न कोई ज्ञान है, न शिल्प, न विद्या, न कला, न योग, न कर्म जो इस नाट्य में नही देखा जाता है।

लेकिन नाटक विभिन्न कलाओं के तत्वों का जोड मात्र नहीं है। बल्कि इनको समाहित करते हुए एक मौलिक और स्वतन्त्र रूप है। नाटक की निरी साहित्यमूलक व्याख्या और समीक्षा उतनी ही अपर्याप्त और अधूरी होती है जितनी उसकी निखालिस रंगमंचीय व्याख्या और समीक्षा। किसी कृति को केवल उसके साहित्यिक महत्व के आधार पर तब तक नाटक नहीं कहा जा सकता जब तक उसमें रंगमंचीय संभावनाएँ न हों। इसी तरह, केवल रंगमच पर सफलता नाटक की एकमात्र कसौटी नहीं हो सकती। जिस तरह संवादों में लिखे जाने मात्र से कोई रचना नाटक नहीं बन जाती उसी तरह अभिनेय हो जाने मात्र से नाटक सार्थक नही हो जाता - भले ही वह मनोरंजक हो अथवा किसी विचारधारा विशेष अथवा सिद्धान्त या आदर्श-विशेष का प्रचार कर दे। इसीलिए नाटक की समीक्षा साहित्यिक नाटक ओर मंचीय नाटक जैसी श्रेणियों के आधार पर करना अनुचित है।

एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट होगी। हिन्दी में पारसी कम्पनियों के नाटक मंचीय दृष्टि से बहुत अधिक सफल और लोकप्रिय रहे, किन्तु उनका ऐतिहासिक महत्व होने के बावजूद उन्हें श्रेष्ठ नाटकों की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। दूसरी ओर, हिन्दी क्षेत्र में अव्यावसायिक रंगमंच के अभाव में जयशंकर प्रसाद के नाटकों का विधिवत् मंचन नहीं हो पाया और जीवंत रंगमंच की स्वस्थ आलोचना का लाभ उनके नाट्य-लेखन को प्राप्त नहीं हो पाया। अत: इक्का-दुक्का प्रदर्शनों की असफलता के कारण इन नाटकों को अरंगमंचीय घोषित किए जाने के बावजूद आज वे श्रेष्ठ और व्यापक रंग-संभावनाओं से युक्त नाटक माने जाते हैं।

नाटक की समीक्षा के संदर्भ में नेमिचन्द्र जैन का कथन महत्वपूर्ण है - 'नाटक श्रेष्ठ तभी हो सकता है जब वह अन्य कलात्मक सर्जनात्मक अभिव्यक्तियों की भाँति किसी-न-किसी तीव्र और गहरी अनुभूति, भाव, विचार या जीवन-दृष्टि या परिस्थिति को प्रस्तुत करता हो। यदि वह कोई सार्थक.

विशेष या मूलभूत बात नहीं कहता तो वह चाहे जितना ' अभिनय या 'साहित्यिक' हो, उसका कोई कलात्मक महत्व नहीं, इरा मूलभूत विशेषता के कारण नाटक, साहित्य ही नहीं अन्य सभी कला रूपों के समान है। पर नाटक एक और अर्थ में भी साहित्य के बहुत समीप है और वह यह कि नाटक मूलभूत तत्व काव्य भी है। वह काव्य का ही एक प्रकार है। श्रेष्ठ नाटक कविता के समान ही भाषा की व्यंजना-शक्ति का, बिम्बमयता का, सघनता और तीव्रता का, संगीत और लय का, शब्द और अभिव्यक्ति की अनिवार्यता का उपयोग करता है। किसी न किसी रूप में और मात्रा में इन तत्वों के बिना नाटक हो ही नहीं सकता। यही कारण है कि संसार के श्रेह नाटक, साहित्य के इतिहास में काव्य के अन्तर्गत गिने जाते रहे हैं। किन्तु नाटक केवल भाषा द्वारा अभिव्यक्त काव्य पर समाप्त नहीं हो जाता। वह निरा काव्य नहीं, दृश्य-काव्य है, उसमें कार्य-व्यापार का काव्य, ध्वनि का काव्य, गीत का काव्य भी निहित होता है जो अभिनेता के माध्यम से उजागर होता है। नाटक की समीक्षा अनिवार्यत: काव्य के इन दोनों आयामों के उद्घाटन और मूल्यांकन की माँग करती है। ' (रंगदर्शन)

17.6 नाट्य- समीक्षक से अपेक्षाएँ

नाट्य-समीक्षक में नाटक के बहु-स्तरीय माध्यम की पहचान समझ और उसके प्रति संवेदनशीलता अपेक्षित है। नाट्य-प्रस्तुति में कई कलात्मक विधाएँ शामिल होती हैं। नाट्य-समीक्षक को न केवल उनकी जानकारी होनी चाहिए बल्कि उनके प्रति उसकी संवेदनशीलता भी अपेक्षित है। इन विभिन्न कलाओं में से किसी एक के प्रति उसका अपेक्षाकृत अधिक लगाव उसकी समीक्षा को प्रभावित कर सकता है। वह किसी एक पक्ष जैसे मंच सज्जा, संगीत अथवा प्रकाश व्यवस्था को आवश्यकता से अधिक महत्व दे सकता है। अभिनय के सम्बन्ध में भी यह बात लागू होती है। किसी खास अभिनेता या अभिनेत्री से वह. अत्यधिक प्रभावित हो सकता है। उसका निजी आकर्षण नाटक की समीक्षा के वस्तुनिह होने में रुकावट डाल सकता है। अत: नाट्य-समीक्षक को इन सब संभावित खतरों से बचना चाहिए। नाटक और रंगमंच-समीक्षक को भाषा की सर्जनात्मक क्षमता, उसके दृश्यपरक स्वरूप की समझ तथा रंग-शिल्प और अभिनय कला की बुनियादी जानकारी होनी चाहिए अन्यथा वह नाटक और उसकी प्रस्तुति का सही मूल्यांकन न कर सकेगा।

दूसरी ओर, उसे नाटक की परम्पराओं, मान्यताओं, रुढियों आदि की जानकारी भी होनी चाहिए, क्योंकि परम्परा ही व्यक्ति में किसी चीज की सही समझ और विवेक पैदा करती है। परम्परा किसी तरह का बंधन नहीं होती बल्कि एक जागरूक बहुमुखी चेतना होती है जो व्यक्ति को प्रयोग करने, नया सृजित करने में सक्षम बनाती है। अत: नाट्य-समीक्षक को विविध नाट्य-परम्पराओं, शैलियों और पद्धतियो की जानकारी होनी कहिए और नाट्यानुभूति को ग्रहण करने में सक्षम होना चाहिए। आधुनिक भारतीय नाटक और रंगमंच ने एक ओर तो संस्कृत नाटक और लोक-नाट्य रूप दोनों से ही प्रभाव ग्रहण किया है। दूसरी ओर पश्चिम की रंग-परम्परा से भी बहुत कुछ लिया है। नाट्य-समीक्षक को इन परम्पराओं की थोडी-बहुत जानकारी अवश्य ग्रहण करनी चाहिए। नाट्य-समीक्षक के संदर्भ में नेमिचन्द्र जैन का निम्नलिखित कथन महत्वपूर्ण है -

'पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित अधिकांश समीक्षाएँ सहज बुद्धि से, मोटी-मोटी ऊपरी सतही बातों को ध्यान में रखकर, दर्शकों की प्रतिक्रियाओं के आधार पर लिखी जाती हैं। अधिकांश में नाटक का सारांश देने के बाद, इस या उस। अभिनेता की भूमिका के अच्छी या बुरी होने की तथा दृश्य-बंध, वेशभूषा

और प्रकाश-योजना के प्रभावी या अप्रभावी होने की चर्चा मात्र रहती है। किन्तु अभिनय तो एक स्वतन्त्र अभिव्यक्ति माध्यम है, जिसके अपने अंग हैं, रूप हैं, नियम हैं और संभावनाएँ तथा सीमाएँ हैं। किन साधनों, युक्तियों. रुढियों और व्यवहारों के कैसे उपयोग से अभिनेता कथ्य को, उसका वहन करने वाले पात्रों के जीवंत व्यक्तित्व को, मूर्त करता है- यह जानने और सूक्ष्मतापूर्वक समझे बिना किसी प्रदर्शन की वास्तविक समीक्षा या मूल्यांकन संभव नहीं। अभिनय पद्धतियों-तकनीकों और शैलियों के कारण जो अन्तर आता है. चरित्र की अभिव्यक्ति में उसके रूपायन में, जो बल की भिन्नता उत्पन्न होती है, उस सबके प्रति राजग हुए बिना कोई सार्थक नाट्यसमीक्षा नहीं होती सकती। इसके लिए अभिनय के शिल्प का ही नहीं, उसकी विभिन्न परम्पराओं का, शैलियों और पद्धतियों का ज्ञान या कम से कम परिचय आवश्यक है। '

नाटक के मूल्यांकन के धरातल पर नाट्य-समीक्षक एक प्रबुद्ध पत्रकार की ग्रमइका में ही होता है क्योंकि उसके तीन कार्य हो जाते हैं - नाटक को देखना, जानना और जाने हुए का खबर के तौर पर विस्तार करना। नाट्य-समीक्षा भी एक विशेष खबर है और इसीलिए पत्र-पत्रिकाओं में उसका अलग स्तम्भ होता है। आलोचनात्मक पुस्तक अथवा लेख की तुलना में पत्र-पत्रिकाओं के लिए नाटक की समीक्षा लिखने में समय की सीमा तो होती ही है, स्थान की भी सीमा होती है। पत्रिका में तो सीमित स्थान होता ही है विशेष रूप से अखबार में और भी कम स्थान मिल पाता है। अत: समीक्षात्मक लेख की गुंजाइश यही नहीं होती। समीक्षक को संक्षेप में तार्किक ढंग से अपनी बात कहनी पड़ती है। अत: आवश्यक होता है कि समीक्षक समझे कि किस पक्ष को कितना विस्तार देना है?

नाट्य-समीक्षा में कलात्मक दृष्टि अथवा आग्रह प्रस्तुत होना चाहिए, व्यक्तिगत पक्षपात अथवा पूर्वग्रह नहीं। यदि वह नाटक निर्देशकों, अभिनेताओं या नाट्य-मण्डलों को उठाने-गिराने का साधन बनेगी तो न तो कोई सम्मान्य मूल्यांकन कर सकेगी और न ही नाटक और रंगमंच कोई दिशा अथवा दृष्टि से सकेगी।

नाट्य-समीक्षक को नाटक के सिद्धान्त पक्ष की जानकारी ही पूर्ण नहीं बनाती, अपितु इस बात का भी ध्यान रखना पडता है कि सम्प्रेषण व्यापार को सशक्त बनाने के लिए किन-किन तकनीकों का सहारा लिया गया है। नाटक साहित्यिक अभिव्यक्ति की एक ऐसी विधा है जिसकी रचना-प्रकिया, लिखने पर ही समाप्त नहीं होती, अपितु जिसका निखार. विस्तार और सम्प्रेषण प्रस्तुतीकरण पर जाकर पूर्ण होता है। पुस्तक-समीक्षा से नाटक-समीक्षा का अलगाव भी इस स्तर पर है कि समीक्षक नाट्य-प्रस्तुति पर विविध कारणों से विचार करता हे। हम नाटक को रंगमंच और दर्शक से अलग करके देख ही नहीं सकते। जबकि पुस्तक समीक्षा में ऐसी शर्त अनिवार्य नहीं है। अभिनय कला, अन्य रूंधकर कलाएँ रंगमंच के विविध रूप-स्वरूप तथा नाट्य प्रकारों की विविध झांकियों से परिचित व्यक्ति ही असली नाटक-समीक्षक हो सकता है। इसका अर्थ हुआ कि नाट्यसमीक्षा सामान्य समीक्षा नहीं है। वही विशिष्ट किस्म के समालोचक की माँग करती है।

नाट्य-समीक्षक को रंग-परम्परा के साथ लोक-परम्परा के अभिप्रायों प्रतीकों, मिथकों की एक खास ढंग से पहचान होनी चाहिए क्योंकि उनके भीतर से ही प्राय: अनेकार्थी अर्थव्यंजना का विस्तार किया जाता है। कई बार नाटक अपने शीर्षक से ही अपनी आंतरिक ध्वनि का विस्फोट करता है और इस ध्वनि को नाट्य- समीक्षक और उसके भीतर का पत्रकार दोनों ही अपने- अपने ढंग से पकड़ते रहे

हैं। किन्तु कुछ सीमाओं के बाद दोनों मे ही एक तरह का तालमेल दिखाई देता है और वह तालमेल अर्थ की लोक-चेतना के स्तर तक घटित होता है। उदाहरण के लिए भारतेन्दु के नाटक ' अंधेरी नगरी' या जयशंकर प्रसाद के नाटक ' स्कंद गुप्त' को ले सकते हैं। इन नाटकों की अनेक समीक्षाओं को देखने से पता चलता है कि नाट्य-मूल्यांकन के धरातल पर नाट्य-समीक्षक एक प्रबुद्ध पत्रकार की भूमिका में ही होता है क्योंकि उसके तीन कार्य हो जाते हैं- देखना, जानना और जाने हुए का खबर के तौर पर विस्तार करना। यही कारण है कि पत्र-पत्रिकाओं में नाट्य-समीक्षा का एक अलग स्तम्भ होता है। होना भी चाहिए क्योंकि नाट्य-समीक्षा भी एक विशेष खबर है। एक ऐसी खबर जो पुरानी कथा के माध्यम से या पुराने मिथकों-प्रतीकों के माध्यम से नए अर्थ का प्रकाश करती है।

प्रसाद का नाटक ' स्कंदगुप्त' ऐतिहासिक होता हुआ भी सांस्कृतिक नाटक है क्योंकि वह केवल इतिहास को नहीं दुहराता, बल्कि नवीन संदर्भो में देशभक्ति की चेतना को अर्थ देता है। क्यों अर्थ देता है, कैसे अर्थ देता है, कितना अर्थ देता है, प्रच्छत्र कथा और प्रगट अर्थ में क्या सम्बन्ध है, यह सम्बन्ध रंगमंच पर कितना उजागर हो सका है- इस पूरी जटिल प्रक्रिया को नाट्य-समीक्षक समझाते हुए पत्रिका में एक खबर बनाता है। एक ऐसी खबर जो सामान्य और विशिष्ट, सभी वर्गो को सोचने-समझने की दृष्टि देती है। सोचने-समझने की नई दृष्टि देना ही पत्रकारिता का उद्देश्य भी है। इसीलिए पत्रकारिता को लोकतंत्र का चौथा स्तम्भ कहा जाता है और यह स्तम्भ लोक-शक्ति पर, ही केन्द्रित रहता है जो सत्ता के सामने अपने को समर्पित नहीं करता। पत्रकारिता सत्ता की क्रुरताओं-विसंगीतयों-विडम्बनाओं को नाट्य-समीक्षा उजागर करती है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण है धर्मवीर भारती का ' अंधा युग' जो नेहरू युग की मूल्यांधता को प्रगट करता है।

17.7 नाटक समीक्षा के मानदण्ड

नाट्य-समीक्षा या रंग-समीक्षा सार्थक और मूल्यपरक होनी चाहिए। रंगमंच बहुत ही समर्थ माध्यम है, लेकिन तभी जब इसकी सामर्थ्य का सही उपयोग हो। नाटक को मूल्यवान सार्थक मानवीय कार्य बनाने में नाटक समीक्षा का महत्वपूर्ण योगदान होता है। नाटककार, निर्देशक और अभिनेताओं से क्या अपेक्षित है और वे उस अपेक्षा को कहाँ तक पूरा कर सके हैं, इसको तलाशना और प्रकट करना नाट्य-समीक्षा का काम है। लेकिन साथ ही उसे सक्रिय उत्साही रंगकर्मियों की मेहनत और लगन को कायम रखने और कठिनाइयों से जूझने के लिए उत्साहित भी रखना है। उसे पूर्वग्रह युक्त कटु आलोचना द्वारा न उनका मनोबल गिरा देना है न ही अतिशय प्रशंसा द्वारा उन्हें आत्मा लोचना से विरक्त कर देना है।

अज्ञानवश अविचारित और पूर्वग्रह युक्त नाट्य-समीक्षा के दुष्परिणाम हिन्दी जगत देख चुका है। जब उसने जयशंकर प्रसाद के इस आग्रह तक को गलत समझा कि नाटकों को रंगमंच के ढाँचे में फिट करने की बजाय रंगमंच का विधान नाटकों को दृष्टि में रखकर किया जाना चाहिए। कृष्णानन्द गुप्त ने बिना सक्रिय रंगमंच के अपनी कल्पना के रंगमंच के आधार पर 'चन्द्रगुप्त' और ' स्कंदगुप्त ' जैसे नाटकों के अभिनय के अनुपयुक्त घोषित कर दिया। दूसरी ओर, पश्चिमी यथार्थवाद से आक्रांत लेखकों और समीक्षकों ने उनके कल्पनामूलक नाटक को यथार्थवाद के ढाँचे में फिट करना चाहा ओर स्थान, काल और कार्य की एकता को लेकर अनेक प्रश्न-चिह्न लगाए। ये समीक्षक भूल गए कि नाटक जीवन का अनुकरण होता है, हू-ब-हू नकल नहीं। दर्शक उसे देखते समय कल्पना और अनुमान को

आधार बनाता है। परिणामस्वरूप 'रामलीला' जैसे लोक-नाट्य में हजारों सालों से सीताहरण और राम-रावण युद्ध देखते चले आने वाले लोगों की भी 'चन्द्रगुप्त' नाटक के युद्ध-दृश्य बच्चों के खेल प्रतीत होने लगे।

नाटक के दर्शक वर्ग के प्रति भी नाटक समीक्षा का दायित्व है। दर्शक नाटक देखने आएँ तभी रंग-कार्यकलाप सक्रिय रह सकता है और प्रगति कर सकता है। नाटक दर्शकों को पसंद आऐंगे तभी वे उन्हें देखने जाऐंगे। लेकिन दर्शकों को नाटक के प्रति प्रबुद्ध और संवेदनशील बनाना उनकी रुचि का परिष्कार करना भी नाटक की समीक्षा का काम है। उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तथा बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में हिन्दी क्षेत्र में सक्रिय पारसीन कम्पनियों द्वारा प्रदर्शित नाटक अत्यन्त लोकप्रिय थे। लेकिन पत्र-पत्रिकाओं में उनकी प्रशंसा नहीं छपती थी, क्योंकि रंग समीक्षक नाटक के मूल उद्देश्य की पूर्ति नही कर पाते थे। उदाहरण के लिए, 'हिन्दी प्रदीप' के अप्रैल, 1883 के अंक में प्रकाशित टिप्पणी-

'पारसी थिएटर से हमारा क्या लाभ?' देखने योग्य है- ' इन पारसियों ने नाटक को, जो सभ्य समाज का परमोत्कृष्ट विनोद था, बिगाड कर भाँड-पतुरियों के तमाशे से भी विशेष कर डाला। इनके नाटकों से, सिवा इश्क और आशिकी-माशूकी की तरक्की के किसी तरह का सदुपदेश, जो नाटकों के अभिनय का मुख्य उद्देश्य है, कोई नहीं निकला। न इनमें हम लोगों की किसी तरह सहानुभूति है जो हमारा इस तरह उपकार इन तमाशों से इन्होंने कभी सोचा हो। इनको केवल रुपया कमाने से मतलब है तो खातिरखाह साल में दो बार आकर कमा ले जाते हैं और प्रत्युपकार में कुप्रवृत्ति की ओर लोगों की तबियत रूजू कर जाते हैं, न इनके नाटक से हमारी भाषा की कुछ तरक्की है।..'

इस टिप्पणी मे नाट्य- अभिनय के प्रमुख उद्देश्य - मनोरंजन के साथ-साथ रुचि परिष्कार, लोक-कल्याण, भाषा की उन्नति की ओर ध्यान दिलाया गया है और घटिया रुचि- निर्माण से दर्शकों का अनहित करते हुए महज पैसा कमाने की प्रवृत्ति की भर्त्सना की गई है। रंगकर्म के सामाजिक दायित्व के प्रति समीक्षक प्रतिबद्ध है। समीक्षक जीवन- मूल्यों के प्रति अपने दायित्व के प्रति सजग है।

यह दायित्व रंग-प्रक्रिया के संदर्भ में भी उतना ही महत्वपूर्ण है। दुनिया भर के रंगमंच की नई-से-नई उपलब्धियों से जुड़ना लेकिन ऐसा करते हुए भी अपनी रंग-परम्परा की जमीन से जुड़े रहना और उसे आज के संदर्भ में प्रासंगिक और सर्जनात्मक बनाना आवश्यक है। यह दायित्व प्रत्यक्ष रूप से नाटककार और रंगकर्मियों का है लेकिन समीक्षक की भी उसमें सक्रिय और रचनात्मक भागीदारी है। बिना स्वरूप और रचनात्मक आलोचना का लाभ उठाए रंगमंच का विकास नहीं हो सकता और इस दायित्व का निर्वाह रंग-समीक्षक के समक्ष की बहुत बडी चुनौती है। उसे नाट्य साहित्य, अभिनय तथा रंगकला के विभिन्न रूपों, शैलियों और पद्धतियों की जानकारी होनी चाहिए। साथ ही, रंग-मण्डीलयों और रंगकर्मियों की आपसी ईर्ष्या, द्वेष और प्रतिस्पर्धा एक-दूसरे को नीचा दिखाने की प्रवृत्ति से मुक्त, स्वतन्त्र और तटस्थ भी। यह अपने आप में काफी विरोधाभासपूर्ण अपेक्षा है। नाटक के बारे में गहन जानकारी होने के लिए उसे इन सबसे जुडा होना चाहिए या इनका अंग होना चाहिए, किन्तु समीक्षक की तटस्थता और वस्तुनिष्ठता उसे इनसे स्वतन्त्र होने की अपेक्षा करती है।

जो लोग स्वयं नाटककार, निर्देशक या अभिनेता हैं, या किसी भी प्रदर्शन करने वाली मण्डली से सक्रिय रूप से सम्बद्ध हैं वे रंगकर्म की सर्जनात्मकता की बुनियादी जरूरतों और कठिनाइयों को जितनी अच्छी तरह समझ सकते हैं उतनी कोई और नहीं। लेकिन यदि वे मित्रता या आकर्षण, हैसियत के

प्रभाव-दबाव या किसी अन्य तरह के लोभ से प्रेरित होकर समीक्षा लिखेंगे तो वे 'प्रोत्साहन देने वाली समीक्षा' अथवा 'छिद्रान्वेषण' से आगे न बढ सकेंगे। समीक्षक की ईमानदारी उसकी सबसे बडी कसौटी है।

यहां नेमिचंद जैन का मत उल्लेखनीय होगा- 'नाटक के समीक्षक किसी मण्डली से सम्बद्ध न हों यह तो समझ में आती है पर इसका यह मतलब नहीं कि वे सिर्फ चालू जुमलेबाज या 'स्मार्ट' या लफ्फाज पत्रकार हो। ऐसे समीक्षकों की, कला-विशेषज्ञों की हमारे यहाँ कमी नहीं।.. ऐसे समीक्षक अक्सर पचास पंक्तियों की समीक्षा में चालीस पंक्तियों में नाटक के बारे में कुछ तथाकथित 'इंटलैक्चुअल बातें कहते हैं और बाकी दस में कुछ एक-दो अभिनेता के बारे में तारीफ-बुराई के, और कुछ दृश्यबंध, वेशभूषा और प्रकाश योजना के बारे में घिसे-पिटे वाक्य होते हैं। सृजनात्मक साहित्य के रूप में नाटक के साथ और अभिनय तथा रंग-कला के विभिन्न रूपों, शैलियों और पद्धतियों के साथ अक्सर समीक्षक की जानकारी बेहद सतही, बनावटी और कभी-कभी तो नहीं के बराबर होती है। '

(नेमिचन्द्र जैन रंग दर्शन)

नाट्य-समीक्षा के मानदण्ड के संदर्भ में कुछ बातें आरंभ से ही विचारणीय तथा बहुत महत्वपूर्ण हैं। उनमें सर्वप्रथम तो है भारतीय नाटकों और नाटकों के लिए मानदण्ड बाहर से आरोपित न होकर अपनी जमीन, अपनी परम्परा और परिस्थितियों में बनें। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि नाटक से हमारी माँग क्या है? यानी नाट्य-प्रदर्शन से क्या अपेक्षा करते हैं? प्रदर्शन से उसे किस तरह पूरा किया जा सकता है? ये प्रश्न भारतीय संदर्भो में विशेष रूप से हिन्दी के संदर्भ में काफी चुनौतीपूर्ण हैं जहाँ रंग-कर्म अन्य भारतीय भाषाओं की तुलना में कम सक्रिय है।

17.8 नाटक समीक्षा के कुछ उदाहरण

नाट्य समीक्षा के स्वरूप और मानदण्ड की चर्चा के उपरान्त हम नाटक की व्यावहारिक समीक्षा पर आते हैं। चर्चा की जा चुकी है कि नाटक की समीक्षा में नाट्य-पुस्तक की समीक्षा मात्र न होकर सम्पूर्ण नाट्य-कर्म की समीक्षा होती है। दृश्य अभिव्यक्ति के लिए माध्यम के उपयोग की संभावनाएँ और सीमाएँ नाट्य कृति में ही अंतनिहित होती हैं। निर्देशक उन अंतर्निहित संकेतों को पकड़कर उन्हें रंगमंचीय माध्यमों द्वारा प्रकट कर देता है। अभिनेता उसे मूर्त और सजीव अभिव्यक्ति देते हैं तथा अन्य रंगकर्मी अभिनेताओं के प्रयास को सफल बनाने में सहयोग देते हैं। अत: कौन-सा नाटक किस नाट्य शैली में किस ढंग से प्रस्तुत किए जाने पर प्रभावशाली अथवा अधिक प्रभावशाली होगा निर्देशक को यह समझ और सूझबूझ होनी चाहिए। कुछ नाटकों का विधान लचीला होता है और उन्हें भिन्न-भिन्न शैलियों में सफलतापूर्वक प्रस्तुत किया जा सकता है, जैसे धर्मवीर भारती रचित ' अंध युग'।- यह एक काव्य-नाटक है जिसे लोक शैलियों (नौटंकी आदि) से लेकर यथार्थमूलक अथवा कल्पनामूलक शैलियों में विभिन्न प्रकार के मंचों पर प्रस्तुत किया जा सकता है। दूसरी ओर, ' प्रसाद' के नाटकों के लिए यथार्थपरक रंगमंच बिलकुल अनुकूल नहीं। उन्हें कल्पना मूलक रंगमंच पर ही प्रस्तुत किया जा सक्ता है।

अत: नाट्य समीक्षा करते हुए समीक्षक को सबसे पहले यह देखना होता है कि मंचन की प्रक्रिया में नाट्य-वस्तु यानी नाटक की मूल आत्मा कहाँ सुरक्षित रही है। यदि निर्देशक सही प्रस्तुति माध्यम

का प्रयोग कर सकेगा, अभिनेताओं से नाट्य-वस्तु की अपेक्षाओं के अनुरूप अभिनय करा सकेगा तो नाटक की सफल प्रस्तुति हो सकेगी।

समीक्षक को मूल्यांकित करना होगा कि नाटक को निर्देशक ने किस रूप में और किस हद तक समझा है और और अभिनेताओं ने उसे कैसे आत्मसात किया है। नाटक में हर पात्र की अपनी विशिष्ट भूमिका होती है, जो उसके चरित्रांकन से उभरती है। अभिनेता उस भूमिका को कितनी गहराई से समझ और प्रस्तुत कर पाते हैं। इस पर पूरा नाट्य प्रभाव आधारित होता है। अत: इतना कह देना मात्र पर्याप्त नहीं होता कि अमुक पात्र का अभिनय अच्छा था या बुरा या प्रभावपूर्ण। देखना यह है कि पात्र अमिनय में कितना जीवंत और कितना वास्तविक हो सका है। मूल पात्र का चरित्र तो अभिनय की प्रक्रिया में नहीं खो गया या रूपान्तरित हो गया। मोहन राकेश के नाटक ' आषाढ़ का एक दिन' के विषय में मंच पर डॉ. प्रतिमा अग्रवाल की टिप्पणी इस संदर्भ में ध्यान देने योग्य है-

> 'कवि शिरोमणि कालिदास और उनकी कल्पित प्रेमिका मल्लिका के असफल प्रेम की यह करुण कथा बरबस मन को छू लेती है; छूती ही नहीं गहरे उतर कर हृदय को द्रवित कर देती है, अभिभूत कर लेती है। इसे पहली बार सन् 1960 में अनामिका (नाट्य मण्डली) के सदस्यों के लिए तथा दुबारा भारतीय हिन्दी परिषद के अधिवेशन (जो सन् 1961 में कलकत्ता में हुआ) के अवसर पर प्रस्तुत किया गया। निर्देशक श्यामानंद जालान ही थे। इस नाटक की सफलता का बहुत बडा श्रेय मल्लिका की भूमिका करने वाली सुनीता को है। जिस प्रकार उसने अपने आपको मल्लिका के रूप में रूपान्तरित कर दिया था (जो नाटक के रूपक नाम को सार्थक एवं मूर्तिमान किए दे रहा था), जिस लगन-निष्ठा और अध्यवसाय से वह उस स्तर तक पहुँची थी, उसने सहयोगी कलाकारों एवं दर्शकों को न जाने कितनी बार आँखें पौंछने को बाध्य कर दिया था। '
>
> -डॉ. प्रतिभा अग्रवाल 'राजन का सुख-दुःख'

उक्त टिप्पणी 'आषाढ़ का एक दिन' के ही एक अन्य पात्र अम्बिका का अभिनय करने वाली प्रतिभा अग्रवाल की है, जिसमें सहयोगी कलाकार के बारे में उनकी राय उभर कर आई है। स्वयं उनका अपना रचनानुभव भी इरा संदर्भ में ध्यान देने योग्य है-

> 'जनता का शत्रु में आस्था-आत्मविश्वास वाली स्नेहमयी माँ एवं पत्नी तथा ' आषाढ़ का एक दिन' की हीली लड़की के हठीली से टूटी-गिरी-चूर हुई माँ में दोनों ही मुझे बहुत प्रिय लगे और मैंने इनमें रन कर अमिनय किया.. 'आषाढ़ का एक दिन' में रमने का जितना श्रेय स्वयं लेने की या पाने की अधिकारिणी हूँ उससे अधिक सुनीता क्योंकि उसकी आत्म-विस्मृति मुझे भी अम्बिका के रूप में बरबस आत्म-विस्मृत कर देती थी - सुनीता रैलिन और प्रतिभा अग्रवाल गायब हो जाती थीं और रह जाती थीं प्रिय को विदेश भेज कर उसकी प्रणय गाथाओं को सुनकर भी झूठे आश्वासन एवं टूटे विश्वास पर जीवन को किसी प्रकार घसीटने वाली मल्लिका जो यही विश्वास लिए जी रही थी कि 'मेरे टूटने में भी तुम बन रहे हो' और उसकी हारी थकी जर्जर माँ, जो अपने अनुभव दूरदर्शिता, स्नेह एवं रोष के बावजूद अपनी हठीली बेटी को उसके निर्णय से जी भर भी विचलित नहीं कर पाती और अंत में उसके आँसू में अपने

आँसू भी मिला, बेटी को जीवन संग्राम में जूझने के लिए अकेला छोड चल बसती है। सारा सब इतना करुण था जो आँखों ही नहीं मन भी गीला कर देता था। '

सृजन का सुख-दुःख

इन टिप्पणियों में नाटक के कथ्य में निहित गहन मानवीय संवेदना और उसे अभिनेत्री द्वारा आत्मसात करके जीवंत और प्रभावपूर्ण बनाए जाने की चर्चा नाटक की समीक्षा का एक अच्छा उदाहरण है। स्वयं लेखिका द्वारा नाटककार की संवेदना के मर्म को स्पर्श किए जाने और उसकी अभिव्यक्ति का यह अनुभव न केवल नाटक के महत्व को स्थापित करता है बल्कि नाटक देखने और समझने की जिज्ञासा भी पैदा करता है. पात्रों को समझने के लिए दर्शक को संस्कारित करता है। यह बात और अधिक स्पष्ट हो सकेगी यदि हम ' आषाढ का एक दिन' की अन्य प्रस्तुतियों की समीक्षाओं से इन टिप्पणियों की तुलना करें। यहाँ दिल्ली में हुई इसकी दो प्रस्तुतियों की डॉ. जयदेव तनेजा द्वारा समीक्षाएँ उद्धृत की जा रही हैं-

17.8.1 आषाढ़ का एक दिन - एक

विदेशी नाटकों के हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत करने के लिए प्रसिद्ध राजधानी की अपेक्षाकृत नई नाट्य-संस्था 'स्टुडियो- 1 ' ने सितम्बर 1981 में श्रीराम सेंटर के तलघर में मोहन राकेश के बहुमंचित नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' को अमला अल्लाना के निर्देशन में प्रदर्शित किया। संस्था की पहली प्रस्तुतियों की तरह यह प्रस्तुति भी निसार अल्लाना के भारी भरकम दृश्य-बंध से बुरी तरह आक्रांत रही। राकेश की मूल परिकल्पना और आलेख के मंच-निर्देशों से अलग हटकर बडे दालान वाली एक झौंपडी के अतिरिक्त यहाँ प्रेक्षागृह का लगभग दो-तिहाई हिस्सा पेड़, पौधों, झाड़ियों और पुल इत्यादि से भरा हुआ था। इस विस्तृत और सघन मंच-परिवेश के बीच दर्शक ही नहीं अभिनेता भी उपेक्षित एवं नगण्य प्रतीत हो रहे थे। बाहरी द्वार की निश्चित योजना के अभाव में पात्रों के प्रवेश-प्रस्थान भी अनिश्चित हो गए और अन्तिम दृश्य में विलोम का ' हर समय द्वार बंद' वाला संवाद तो हास्यास्पद ही बन गया। दृश्य-बंध के बिखराव के कारण ही अधिकांश पात्रों की अनेक गढ़ियाँ अकारण ही लम्बी और निरुद्देश्य हो गई। झरोखे के अभाव ने भी कई प्रसंगों और सम्वादों को अतार्किक बनाया। कुल मिलाकर इस विस्तृत दृश्यांकन ने पहाड़ी-प्रदेश के स्थान पर जंगल और सार्थकता के बजाए सुन्दरता का ही अहसास कराया। बसंत जोसलकर की प्रकाश-योजना कल्पनाशील थी। प्रदर्शन का आरम्भ प्रत्यक्षत: सिने तकनीक से प्रभावित था।

इस प्रस्तुति की सबसे बड़ी उपलब्धि थी - निदेशिका द्वारा नाटक के कथ्य-और चरित्रों के पारस्परिक सम्बन्धों को मंच के व्याकरण में अनूदित एवं रूपायित करने की सफलता। परन्तु 'आषाढ़ का एक दिन' की मूल विशेषता इसकी संवेदनशील भाषा और काव्य एवं नाट्य के अद्भुत संतुलन से संयोजित इसके संवाद हैं और इस प्रस्तुति का सबसे कमजोर पक्ष यही था। संवाद-प्रस्तुति में अंग्रेजी भाषा की लय अथवा पंजाबी-उच्चारण से बार-बार दर्शक के संवेदनशील मन को आघात लगता था। कालिदास की केन्द्रीय भूमिका में रवि झाँकल कमजोर रहे। मल्लिका, अम्बिका, प्रियंगुमंजरी और विलोम की भूमिकाएँ क्रमश: मोना चावला, आभा सूदा/लक्ष्मी कृष्णमूर्ति, वीण त्रिवेदी/निरूपमा वर्मा और बनवारी तनेजा ने अभिनीत कीं। गौण पात्रों में मातुल के रूप में सिर्फ सुधीर कुलकर्णी का अभिनय ही दर्शनीय

था। दिल्ली के रंगमंच के एक प्रमुख अभिनेता विश्व मोहन बिड़ला के अनुसार 'यह आषाढ़' की ऐंग्लो-इंडियन प्रस्तुति थी। '

17.8.1 आषाढ़ का एक दिन - दो

कला और प्रेम, कलाकार और राज्याश्रय, रचनात्मकता और परिवेश, भावना और कर्म, आदर्श और यथार्थ, इच्छा और समय के स्थाई द्वन्द्व और इनके आन्तरिक सम्बन्ध को राजेन्द्र नाथ के निर्देशन में श्रीराम सेन्टर के रंग-मण्डल द्वारा 1983 की प्रस्तुति राकेश के 'आषाढ़ का एक दिन' में उभारने की कोशिश की गई। प्रस्तुति साफ-सुथरी, सन्तुलित और रोचक थी। मनोज शर्मा ने कालिदास के अन्तर्विरोधों को विश्वसनीय ढंग से पेश किया तो सीमा मार्ग ने आस्था और समर्पण की साकार प्रतिमा, भावुक प्रेमिका मल्लिका की मूक वेदना को संवेदनशील ढंग से उभारा। संजीवन सहायक का विलोम भी सहज था। प्रतिमा काजमी की अम्बिका में विवशता-जन्य पीड़ा और मल्लिका के मातुल में कुछ अतिरंजना भी थी। सबीना मेहता सूद का व्यक्तित्व तो प्रियंगुमंजरी के अनुकुल भव्य,सुंदर और प्रभावशाली था किन्तु उनकी हँसी चरित्र से मेल नहीं खाती थी। प्रस्तुति के प्रथम अंक में कई जगह गलत बलाघातों के कारण संवादों की काव्यात्मकता को ही नहीं बल्कि अर्थों तक को क्षति पहुँची। बिजली, बादल और वर्षा तथा घोड़ों की आवाजों तथा बच्ची के रोने की दोषपूर्ण प्रस्तुति ने भी प्रदर्शन के प्रभाव को खण्डित किया। फिर भी कुल मिलाकर ' आषाढ़ का एक दिन' की यह प्रस्तुति अपनी कलात्मक सादगी, आलेख के प्रति अधिकाधिक ईमानदारी, नेपथ्य संगीत के प्रभावशाली उपयोग और अभिनेताओं के सहज अभिनय के कारण यह सुखद अनुभव सिद्ध हुई।

(हिन्दी रंगकर्म दशा और दिशा)

पहली समीक्षा में प्रस्तुति-विवरण अधिक है, समीक्षा कम। मंच-सज्जा, प्रकाश-व्यवस्था, निदेशन-प्रस्तुति, तकनीक आदि का ब्योरा देने के बाद संवाद प्रस्तुति की खामियां बताते हुए उल्लेख दिया गया है कि कौन-सी भूमिका किस अभिनेता या अभिनेत्री ने अदा की। नाटक के सम्पूर्ण प्रभाव के रूप में विश्व मोहन बिड़ला के शब्दों में उसे 'आषाढ का एक दिन की एंग्लो-इंडियन प्रस्तुति' कहकर समीक्षाकीय दायित्व पूरा मान लिया गया है। नाटक में निहित मानवीय संवेदना की गहनता. विरोधाभासपूर्ण स्थितियों की जटिलता-प्रेम, आत्म-त्याग, आत्म-विस्मृति, आत्म-केन्द्रीय, स्वार्थपरकता, आत्म-विस्तार जैसे परस्पर विरोधी भावों के बीच टूटते-बिखरते परिवेश की रिक्तता और रिक्तता को नाटक में कितना और कैसे प्रस्तुत किया जा सका। इसकी चर्चा इस समीक्षा में रंचमात्र नहीं है। इसी तरह, नाट्य-भाषा की संवेदनशीलता और काव्यात्मकता का उल्लेख तो है कि किन्तु नाटककार द्वारा सम्प्रेषित और प्रस्तुति द्वारा अभिव्यक्त संदेश का दर्शक पर क्या प्रभाव पड़ा यह चर्चा भी नहीं है।

दूसरी प्रस्तुति में अभिनेताओं की भूमिका पर टिप्पणियाँ हैं, ध्वनि-प्रभाव, संगीत आदि की चर्चा है। लेकिन कुल मिलाकर यह भी चलता समीक्षा ही है। राजेन्द्र नाथ जैसे कुशल और अनुभवी निर्देशक की प्रस्तुति को 'साफ-सुथरी, संतुलित और रोचक' कहकर आगे चल पढने से समीक्षक का दायित्व पूरा नहीं हो जाता। यह नाट्य प्रस्तुति मोहन राकेश की नाट्य -संवेदना को सम्प्रेषित करने में कहीं तक सफल हुई है और दर्शक को इस नाटक के भाव बोध से कहीं तक समृद्ध बनाती है, इसकी कोई चर्चा यहाँ नहीं की गई है।

नाट्य-समीक्षा वास्तव में नाट्य-प्रस्तुति समाचार मात्र नहीं है। नाटक के कथ्य और उसकी मंचीय प्रस्तुति दोनों की गहन और आलोचनात्मक जानकारी देना नाट्य-समीक्षक का दायित्व है जिससे कि पाठ्क रचनाकार की रचना, निर्देशक द्वारा उसकी व्याख्या, अभिनेताओं द्वारा उसकी अभिव्यक्ति और रंगकर्मियों के उस अभिव्यक्ति में सहयोग को सही ढंग से मूल्यांकित किया जा सके। इस समग्र मूल्यांकन में दर्शकों पर नाटक के प्रभाव (दर्शकों की प्रतिक्रिया) भी शामिल होनी चाहिए।

आगे हम ' अंधायुग' के मंचन की जयदेव तनेजा द्वारा की गई दो समीक्षाएँ उद्धृत कर रहे हैं। ये समीक्षाएँ रचना, रचनाकार, निर्देशक की रंग परिकल्पना, उसके द्वारा नाट्य-स्क्रिप्ट के संपादन, अभिनय, रंग-सज्जा आदि के सम्बन्ध में काफी महत्वपूर्ण और विस्तृत अभिमत प्रस्तुत करती हैं-

17.8.2 अंधायुग

'अंधायुग' आधुनिक भारतीय साहित्य और रंगमंच की एक जीवन्त एवं महत्वपूर्ण कृति है। यह इस पद्य-नाटक में निहित अपरिमित सम्भावनाओं का ही परिणाम है कि अब तक यह नाटक प्राय: सभी प्रतिभावान भारतीय निर्देशकों एवं उल्लेखनीय नाट्य-दलों द्वारा विविध नाट्य-शैलियों और भाषाओं में अभिमंचित होकर देश की बहुरूपी रंगसम्पदा एवं प्रयोग-धर्मिता को रेखांकित करने वाला एक महत्वपूर्ण नाटक बना हुआ है। सन् 1962 से लेकर 1964 तक यह सत्यदेव दुबे, इब्राहिम अल्काजी, अजितेश बैनर्जी, मोहन महर्षि, अवध बिहारी लाल, सतीश आनन्द, रवि बासवानी कमलाकर सोनटक्के, राजेन्द्र गुप्ता, ज्योतीन्द्र सिंह सोहल, कमल विशिष्ट, भानु भारती, एम. के. रैना, राज बिसारिया और बंसी कौल जैसे कल्पनाशील रंगकर्मियों को अपनी ओर आकर्षित करके प्रोसीनियम से लेकर मुक्ताकाशी मंच तक और यथार्थवादी तथा लोक शैली से लेकर पारसी, काबुकी, एब्सर्ड, मनोशारीरिक इत्यादि विविध-शैलियों के बहुविध रंगरूपों में अभिमंचित किया जा चुका है। इसके बावजूद इसकी सम्भावनाएँ और चुनौतियाँ अभी चुकी नहीं है - राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय दिल्ली के छात्रों द्वारा मणिपुरी शैली में किया गया नया प्रस्तुतीकरण इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

आधुनिक भारतीय रंगमंच में पारम्परिक तत्वों और लोक-शैलियों के सार्थक प्रयोग की दृष्टि से हबीब तनवीर, कारंत, पन्निकर एवं रतन थियम का नाम समकालीन भारतीय रंग-परिदृश्य में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। बहुत कम समय में लेखकनिर्देशक के रूप में रतन थियम ने जो ख्याति और प्रतिष्ठा प्राप्त की है वह बहुतों के लिए आश्चर्य और ईर्ष्या का कारण है।

राष्ट्रीय नाट्य-विद्यालय के अंतिम वर्ष के चौबीस छात्रों के लिए पैंतालीस दिनों तक रतन थियम के निर्देशन में मणिपुर में एक रंग शिविर का आयोजन किया गया। उद्देश्य था - छात्रों द्वारा मणिपुर की पारम्परिक प्रस्तुति-कलाओं का अध्ययन-प्रशिक्षण और उनका उपयोग करते हुए एक नाट्य-प्रदर्शन की तैयारी। मणिपुरी युद्ध-कला और वहाँ के शास्त्रीय एवं आदिवासी नृत्यों के प्रशिक्षण के साथ-साथ छात्रों के लिए विशेष रूप से मणिपुरी लोक-नाट्यों और नृत्यों के एक समारोह का आयोजन भी किया गया।

'अंधायुग' महाभारत के पौराणिक महाकाव्यात्मक प्रसंगों, संदर्भो और चरित्रों के माध्यम से युद्ध की बहुस्तरीय विभीषिका का प्रभावशाली चित्रण करने और लचीले प्रयोगधर्मी फॉर्म के कारण पारम्परिक अथवा लोक रंग-तत्वों के उपयोग और शैलीगत अभिनय का लालच देता है। सम्भवत: यही कारण है कि रतन थियम ने इस प्रशिक्षण रंग-शिविर के लिए इस नाटक का चुनाव किया।

'अंधायुग' से रतन का सम्बन्ध बहुत पुराना है और यह उनका प्रिय नाटक भी रहा है। यह मणिपुरी भाषा में प्रस्तुत होने वाला हिन्दी का पहला नाटक था, जिसे नाट्य विद्यालय से जाने के तुरन्त बाद रतन से ही सितम्बर- अक्टूबर 1974 में अनुदित- निर्देशित किया था। इसके कुछ वर्षो बाद इसी निर्देशक ने कलकत्ता में इसका नया प्रस्तुतीकरण भी किया। राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय की इस नई प्रस्तुति का यह विवेच्य रूप मूल आलेख का अत्यधिक संपादित एवं संक्षिप्त रूप था। यहाँ वहाँ बीच- बीच में काटे गए कतिपय संवादों के अतिरिक्त ' अंतराल' और ' पाँचवाँ अंक' ही नहीं 'समापन' का भी अधिकांश भाग काट दिया गया। इससे नाटक की संरचना और इसके स्वाभाविक विकास एवं उद्देश्य को क्षति पहुँची, कुछ चरित्र अविकसित या अधूरे रह गए और अंत आरोपित या निरर्थक प्रतीत होने लगा। 'गांधारी' के साथ एक दासी की परिकल्पना निर्देशक की मौलिक सूझ थी। प्रदर्शन में मुख्यत: थांग-ता (युद्ध-कला), आदिवासी नृत्य (गतियाँ), मणिपुर संगीत और वरिलिबा नामक एक 'कथा रूप' का उपयोग किया गया।

निःसंदेह ' अंधायुग' का विवेच्य प्रदर्शन एकदम मौलिक, कलात्मक, सौंदर्य-बोध युक्त और मनोरम था। परन्तु मूलत: यह नाटककार धर्मवीर भारती का नहीं निर्देशक रतन थियम का ' अंधायुग' था। निर्देशक ने आलेख को मंच की भाषा में अनुदित करने और उसे प्रभावशाली चाक्षुष बिम्बों के द्वारा अभिव्यक्त करने की पूरी सफलता पाई। कथागायन का बहुविध रचनात्मक इस्तेमाल, अश्वत्थामा और कृतवर्मा की चिंगारियाँ छोडती प्रभावशाली तलवारबाजी, कई घोड़ों वाले गतिशील रथ तीव्रतर होते अश्वत्थामा के सम्वादों एवं क्रियाकलापों का अपूर्व बिम्ब, समन्तपंचक में दुर्योधन और अन्य मृतकों के अंतिम संस्कार का अनुष्ठानात्मक प्रत्यक्ष प्रदर्शन एवं मृत्यु सम्बन्धी एक मणिपुरी लोक गीत का सार्थक उपयोग, दर्शकों के दाएँ-बाएँ से आते-जाते पाते, काले-सच्चे और लाल रंगों का मनोवैज्ञानिक आधार पर सटीक चुनाव, लोक नाटकों की भाँति न्यूनतम मंचोपकरणों के कल्पनाशील इस्तेमाल से बनती-मिटती सांकेतिक मंच-सज्जा, अध्याकार से उभरते कथा-गायकों के स्वरों से भरता दृश्यांतरों का अंतराल, श्रोताओं, दर्शकों के मन में स्फूर्ति एव ऊर्जा पैदा करता मणिपुरी संगीत, विशिष्ट अस्त्र-शस्त्र. वस्त्राभूषण एवं रूप-विन्यास का रोचक उपयोग जैसी कुछ ऐसी विशेषताएँ थीं जो बरबस ध्यान खींच लेती थीं।

यह प्रदर्शन रंग-कला और प्रयोगधर्मिता की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण होने के बावजूद मूल नाट्यालेख से न्याय नहीं करता। यह प्रदर्शन महायुद्ध के बाद की ध्वस्तता, थकान, टूटन, ऊब, उदासी. अर्थहीनता और मूल्य-मर्यादाओं की हत्या से उत्पन्न अनास्था एवं सर्वग्रासी अंधता को रेखांकित करने के बजाए युद्धोन्माद की तीव्र उत्तेजना और पराजय से उत्पन्न नपुंसक आक्रोश को रेखांकित करता था। प्रस्तुति की तीव्र गति का भी यही कारण है। ' युद्ध-कला' के अतिरिक्त प्रदर्शन-मोह के कारण ही प्रस्तुति के आरम्भ में दोनों प्रहरी अंधी संस्कृति और रोगी मर्यादा की रक्षा की निरर्थकता से उत्पन्न अस्तित्व की अर्थहीनता, ऊब और थकान से टूटे-चूके होने के बजाए एकदम सक्रिय ही नहीं आक्रामक भी दिखाई देते थे। अन्य पात्रों के स्वरूप-निर्धारण में भी इसी प्रकार का चरित्रान्तर दिखाई पडा। युयुत्सु ' अंधायुग' का अत्यन्त महत्वपूर्ण, संवेदनशील और त्रासद चरित्र है। सन् 1974 में इब्राहिम अल्काजी की पुराने किले वाली प्रस्तुति में स्वयं रतन थियम इस भूमिका को सफलतापूर्वक अभिनीत भी कर

चुके हैं; किन्तु आश्चर्य होता है यह देखकर कि उनकी इस प्रस्तुति में जितेन्द्र शास्त्री/युसुफ खुर्रम अभिनीत यही चरित्र एकदम अविकसित और प्रभावहीन रह गया।

अश्वत्थामा की कठिन भूमिका तीनों प्रदर्शनों में श्रीशचन्द्र डोभाल, चन्द्रमोहन तथा महाबीर भुल्लर ने अलग-अलग निभाई; अभिनय स्तर के किंचित अंतर के बावजूद प्रदर्शन में अश्वत्थामा का चरित्र परिणतिहीन और अधूरा-सा लगा। सीमा विश्वास (रेणुका असरानी) की गांधारी में अति नाटकीयता एवं भावुकता का अतिरेक था। कृतवर्मा तथा कृपाचार्य के रूप में अकबर शेख और राजू शुक्ला में जीवंतता थी। सुरेन्द्र शर्मा का विदुर संयमित रहा। नगाड़े की तीव्रतर ताल पर गीत पकड़ता अश्वत्थामा के रथ और घोडों का बहु प्रशंसित प्रबल चाक्षुष-बिम्ब कलकत्ता वाली बंगला प्रस्तुति में पहले ही प्रदर्शित कर चुके थे। अंत में व्याघ्र को मंच पर लाकर कृष्णवध को साकार करने की युक्ति की अपेक्षा स्वयं भारती के शब्दों में अंजना एवं तीव्रता अधिक है। दो सप्ताहों में तैयार किए गए इस प्रदर्शन में पूर्वाभ्यास की कमी को अनदेखा भी कर दें, तब भी प्रस्तुति व्याख्या एवं परिकल्पना के स्तर पर भी केवल अंशों में ही प्रभावित कर पाई। इसके बावजूद यह सच है कि रतन थियम के निर्देशन एवं संगीत में ताजगी, मौलिकता और कल्पनाशीलता की प्रचुरता थी। शब्दों को प्रभावी मंच-बिम्बों में रूपांतरित करने की क्षमता तथा प्रदर्शन शैली की प्रमाणिकता एवं रोचकता को कई अस्वीकार नहीं किया जा सकता। हाँ, यदि इसे एक सर्वांगपूर्ण प्रदर्शन के बजाए केवल छात्रों की प्रशिक्षण-प्रस्तुति अथवा अभ्यास-प्रदर्शन के रूप में ही देखें तो अपनी व्याख्यागत सीमाओं के रहते भी, अंधायुग' के प्रस्तुति-इतिहास में इसे एक महत्वपूर्ण रंग-प्रयोग कहा जा सकता है।

17.8.2.1 अंधायुग-दो

धर्मवीर भारती का अंधायुग' समकालीन हिंदी एवं भारतीय नाटक और रंगमंच की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। इसे देश और विदेश की जितनी भाषाओं और रंग-शैलियों में जितनी विविधता और सफलता के साथ पेश किया गया है - वह अपने आप में एक कीर्तिमान है। ' अंधायुग' हमारे रंगकर्मियों के लिए स्वयं अपनी प्रतिभा, कुशलता और कल्पनाशीलता को परखने की कसौटी-सा बन गया है। यही वजह है कि नयी-पुरानी पीढ़ी का प्रत्येक उल्लेखनीय रंगकर्मी कभी-न-कभी इस काव्य-नाटक की चुनौती से जरूर टकाराना चाहता रहा है। पुरानी पीढी के इब्राहिम अल्काजी और नई पीढी के एम. के. रैना जैसे निर्देशक तो इसे बार-बार नए रंग-रूपों में प्रस्तुत करने की कोशिश करते रहे हैं।

संभवत: यही कारण था कि पिछले दिनों जब जर्मनी से किसी प्रतिनिधि भारतीय नाटक को मंचित करने का निमंत्रण मिला, तो राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के रंगमंडल ने निःसंकोच अंधायुग' का ही चुनाव किया। निर्देशन के लिए एम. के. रैना से अनुरोध किया गया। इससे पहले रैना इसी नाटक को अक्टूबर 1977 में इसी नाट्य-दल के साथ पुराने किले के खंडहरों में भी प्रस्तुत कर चुके थे।

इसकी दिल्ली के कमानी प्रेक्षागृह में प्रदर्शित प्रस्तुति में, भाव-पक्ष को उभारने और विदेश ले जाने की सुविधा को देखते हुए निर्देशक ने दृश्य-बंध को सादा रखा। मंच के बायीं ओर, पीछे कोरस को बिठाया गया। उसके पीछे वादक खड़े किए गए। दायीं ओर बाँसों से एक मचाननुमा ऊँचा मंच बनाया गया, जिस पर चढ़ने उतरने के लिए चौड़ी सीढ़ियों की योजना थी। मचान के ऊपर-नीचे सीढियों पर और शेष मंच पर आगे-पीछे लगभग सात-आठ अभिनय स्थल रखे गए, परन्तु इस मंच-संरचना से न तो युद्ध के बाद की बाह्य विभीषिका का बोध हुआ और न ही चरित्रों के भीतर की मूल्य-मर्यादाहीन

ध्वस्तता का। पंचानन पाठक की संगीत-रचना ने पहली बार ' अंधायुग' के कथागायन में निहित लयात्मकता और ग्रेयता को रेखांकित किया, धुनें मधुर और वैविध्यपूर्ण थीं; परन्तु उसी अनुपात में नाटकीयता की कमी अंत तक खटकती रही। जी. एस. दासगुप्ता एवं जी. एस. मराठे की प्रकाश-परिकल्पना असरदार थी. परन्तु कौरव नगरी पर गिद्धों के बादल छाने और कौए-उल्लू युद्ध-दृश्यों में छाया लोक समुचित नहीं रहा। पुतली संचालन भी दोषपूर्ण था।

यद्यपि पात्रों के प्रवेश (और कहीं-कहीं प्रस्थान) के लिए प्रतीक-चित्रित रंग-पट्टियों के नाटकीय इस्तेमाल, धृतराष्ट्र एवं गांधारी के अग्निदाह के समय कोरस के नारंगी लाल दुपट्टों के रूप में उपयोग तथा अंत में मंगलमय भविष्य की संभावना के लिए व्यर्थ के संवाद के साथ नवजात शिशु के रोने की आवाज इत्यादि में रैना की निर्देशकीय कल्पनाशीलता एवं सूझ-बूझ के प्रत्यक्ष प्रमाण मिलते हैं, परिधान-परिकल्पना प्रभावशाली थी और चाक्षुष-बिम्बों की दृष्टि से भी प्रदर्शन कई जगह सम्मोहक था। परन्तु कुल मिलाकर, समग्र प्रभाव और प्रदर्शन मूल्यों की दृष्टि से यह प्रस्तुति न तो विदेश में समकालीन भारतीय रंगमंच के श्रेष्ठ रूप का सम्यक् प्रतिनिधित्व करने वाली एक यादगार रचना बन पाई और न ही इसे 'अंधायुग' के प्रदर्शन इतिहास की कोई उल्लेखनीय घटना कहा जा सकता है। '

(डॉ. जयदेव तनेजा हिंदी रंगकर्म दशा और दिशा)

कभी-कभी स्थानाभाव के चलते समीक्षा काफी छोटी लिखनी पड़ती है। लेकिन ऐसा करते समय भी नाटक के विभिन्न पक्षों को दृष्टि से ओझल नहीं होने देना चाहिए। उदाहरण के तौर पर निम्नलिखित नाट्य समीक्षा देखिए-

'पैसा न ध्यल्लागुमानसिंह - रौतेल्ला' का सफल मंचन

प्यारे लाल भवन में गत दिवस ग (नई दिल्ली)ढ़वाली नाटक 'पैसा न ध्यल्लागुमानसि-ंह रोतैल्ला' का नाट्य संस्था 'दि हाई हिलर्स ग्रुप' द्वारा सफल मंचन किया गया। यह इस नाटक की तेरहवीं प्रस्तुति थी

प्रसिद्ध मराठी नाटककार महेश एलकुंचवार के 'वाडा चिरेबंदी' नामक मराठी नाटक का 'पैसा न ध्यल्ला गुमान सिंह रोतैल्ला' गढ़वाली रूपांतर है। गढ़वाली रंगमंच को 'अर्धग्रामेश्वर' तथा 'जै भारत जै उत्तराखंड' जैसे सफल नाटक देने वाले पेशे से पत्रकार श्री राजेन्द्र धस्माना इस नाटक के रूपांतरकार है श्री धस्माना ने नाटक के तानेबाने को इतने सशक्त ढंग से - बुना है कि नाटक को देखने वाला हर व्यक्ति इन पात्रों से कहीं न कहीं अपने आपको जुड़ा पाता है या ऐसे पात्र गढ़वाल में वह अपने इर्दगिर्द पाता है।-

उत्तराखंड से प्रतिभा पलायन शराबखोरी तथा उत्तरोत्तर गिरते जीवन मूल्यों को लेखक ने बखूबी उकेरा है। यह नाटक गुमान सिंह रौतेल्ला परिवार के इर्द :गिर्द घूमता है- शौक-जिसकी शानोत के डंके कभी आसपास के गांवों में बजते थे पर उसकी मौत के बाद - उसका आर्थिक छप से जर्जर होचुका परिवार अपने परंपरागत मूल्यों की बलिवेदी पर बढ़ जाता है।

हिंदी तथा गढ़वाली रंगमंचों से वर्षो से जुडे श्री हरि सेमवाल ने इस नाटक के निर्देशन का दायित्व बेहद सफलता से निभाया है।

नाटक में हास्य व्यंग्य तथा गंभीरता के वे तभी पुट मौजूद हैं जो एक नाटक की सफलता के लिए जरूरी होते हैं

स्व. गुमान सिंह रौतेल्ला की पत्नी की भूमिका में सुशीला रावत बड़े पुत्र केसर की भूमिका में बृजमोहन शर्मा नौल्या की भूमिका में सतीश भंडारी तथा भाभी की भूमिका में मंजू बहुगुणा का अभिनय विशेष सराहनीय रहा।

नाटक में जुडी भीड से लगता है कि हिंदी नाटकों के बजाय क्षेत्रीय भाषा के नाटकों का धरातल आज भी मजबूत है।

- विजेन्द्र रावत हिन्दुस्तान 6 नवम्बर' 1998

17.9 रंगमंच और नाट्य समीक्षा से व्यावहारिक संपर्क

नाटक की समीक्षा करने के लिए अथवा नाटक समीक्षक बनने के लिए आपको नाटक और रंगमंच से लगातार संपर्क में रहना होगा यानी आपको नाटक और उसके विषय में पढ़ना तथा नाटक देखना होगा। जब भी मौका मिले नाटक देखें, चाहे वह कोई नाट्य रूप हो, थियेटर में हो, नुक्कड़ नाटक हो, नौटंकी हो, रासलीला हो। इससे न केवल आपका रंगमंच विषयक ज्ञान बढ़ेगा बल्कि विभिन्न स्थितियों, पात्रों, भूमिकाओं की अभिव्यक्ति को आप गहराई से समझ सकेगें। अलग-अलग प्रस्तुतियों में नाटकों के विभिन्न पक्षों की अभिव्यक्तियों की तुलना के आधार पर आप उनका मूल्यांकन कर सकेगें नाटक और रंगमंच की अपेक्षाओं और दर्शक की अपेक्षाओं को समझ सकेंगे। इस सबको जानने के बाद जब आप नाटक की समीक्षा करेंगे तो आपका विश्लेषण. विवेचन और मूल्यांकन तर्कसंगत और विवेकपूर्ण हो सकेगा।

नाटक देखने के अलावा आपका रंगमंच से लगातार परिचय, पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से रह सकता है। विभिन्न अखबारों और पत्रिकाओं में छपने वाली नाटक समीक्षाओं को पढ़िए और उनकी आलोकनीय पड़ताल कीजिए। कुछ पत्रिकाएँ, विशेष रूप से नाटक और रंगमंच की हैं। इनमें नाटक सम्बन्धी विभिन्न गतिविधियों पर जानकारी होती है। नए प्रकाशित नाटकों. विभिन्न पुराने नाटकों के मंचन आदि की सूचनाओं के अलावा नाटककार, निर्देशक विशेष पर भी लेख रहते हैं। कुछ नाटक भी इनमें छपते हैं तथा नाट्य प्रस्तुतियों की समीक्षाएँ भी होती हैं। ऐसी कुछ पत्रिकाओं के नाम यहीं दिए जा रहे हैं। इनमें से जो आपको सुलभ हों, उन्हें देखें।

17.10 नाटक और रंगमंच की पत्रिकाएँ

नाटक प्रदर्शनकारी कला है और उसकी समीक्षा सामान्यत: रविवारय परिशिष्ट के अन्तर्गत दैनिक समाचार पत्रों के साथ प्रकाशित होती ही है। लेकिन उससे ही काम नहीं चलता। विशुद्ध रूप से नाटक और रंगमंच के लिए पत्रिकाओं की आवश्यकता अनुभव की जाती रही है। यहाँ नाटक और रंगमंच से सम्बन्धित विशिष्ट पत्रिकाओं का उल्लेख किया जा रहा है-

- नटरंग (दिल्ली)
- सूत्रधार।
- बिहार थिएटर (बिहार संगीत नाटक अकादमी)

- नाट्य-वार्ता (अनामिका', कलकत्ता)
- अभिनय (दिल्ली)
- अभिनय संवाद
- रंगभारती (लखनऊ) [अब प्रकाशन बंद है]
- छायानट (उत्तर प्रदेश संगीत नाटक अकादमी, लखनऊ)

17.11 सारांश

इस पाठ में आपने 'नाटक समीक्षा' के विषय में पढा है। अब आप बता सकते हैं कि समीक्षा क्या है: उसका क्या उद्देश्य है? समीक्षा और पत्रकारिता का क्या सम्बन्ध है तथा समीक्षा कैसे की जाती है। पुस्तक समीक्षा और नाट्य समीक्षा का अंतर भी आपके इस पाठ में पता चला है। अब आप नाट्य समीक्षा की विशिष्टताओं और अपेक्षाओं से परिचित हो गए हैं। आप जानते हैं कि नाटक न तो केवल साहित्य है और न ही केवल मनोरंजन का साधन। इसमें विभिन्न कलाओं का योग है। अत: इसकी समीक्षा साहित्य और विभिन्न कलाओं के तथा निर्देशक' अभिनेताओं और दर्शक वर्ग के संदर्भ में की जानी चाहिए। इस पाठ में आपने नाट्य समीक्षा के मानदण्डों की जानकारी भी प्राप्त की है। साथ ही कुछ नाटकों की समीक्षाओं के विभिन्न उदाहरण भी देखें। अब आप नाटक की समीक्षा कर सकते हैं।

17.12 निबन्धात्मक प्रश्न

1. समीक्षा क्या है? पत्रकारिता और समीक्षा का सम्बन्ध बताइए।
2. नाट्य समीक्षा के विशिष्ट स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए बताइए कि नाट्य समीक्षक से हम क्या अपेक्षा करते हैं?
3. नाट्य समीक्षा के मानदण्डों की संक्षेप में चर्चा कीजिए।
4. किसी नाटक का मंचन देखिए और उसकी समीक्षा लिखिए।

इकाई- 18 नाटक समीक्षा-2

इकाई की रूपरेखा

18.0 उद्देश्य
18.1 प्रस्तावना
18.1.1 नाटक का उद्भव
18.1.2 नाटक की परिभाषा
18.1.3 नाटक के मूल तत्व
18.2 नाट्य समीक्षा
18.2.1 समीक्षक की योग्यताएँ एवं उसका कर्म
18.2.2 नाट्य समीक्षा के सिद्धान्त
18.2.3 पठित नाटक और अभिनीत नाटक की समीक्षा में अन्तर
18.2.4 नाट्य समीक्षा का प्रारम्भ
18.2.5 हिन्दी रंगमंच का प्रारम्भ
18.2.6 हिन्दी नाट्य समीक्षा की वर्तमान स्थिति
18.2.7 हिन्दी में रंग-पत्रिकाएँ
18.3 नाट्य समीक्षा के उदाहरण
18.3.1 आधे अधूरे
18.3.2 हानूश
18.3.2.1 कथानक और उसका विकास
18.3.2.2 नाटक के पात्र
18.3.2.3 नाट्य शिल्प और रंगमंच
18.3.2.4 नाट्य भाषा एवं सम्वाद
18.3.3 सूर्यमुख
18.4 रेडियो और दूरदर्शन के नाटक की समीक्षा
18.5 मंच, रेडियो और दूरदर्शन के नाटकों में संगीत का प्रयोग
18.6 सारांश
18.7 शब्दावली
18.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें
18.9 निबन्धात्मक प्रश्न

18.0 उद्देश्य

यह पाठ पूरा होने पर आप-

- नाटक की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जान जायेंगे।
- नाटक की परिभाषा से परिचित हो जायेंगे।
- नाटक के मूल तत्वों की जानकारी प्राप्त कर लेंगे।

- नाट्य समीक्षा क्या है, यह जान जाएँगे।
- नाट्य समीक्षा की योग्यताओं से परिचित होंगे।
- नाट्य समीक्षा के सिद्धान्त जान जायेंगे।
- हिन्दी नाटकों की समीक्षा की वर्तमान स्थिति से अवगत हो जायेंगे।
- इस क्षेत्र में सक्रिय होने के सूत्र व दायित्व समझ सकेंगे।

18.1 प्रस्तावना

केवल भारतवर्ष में ही नहीं वरन् विश्व के सभी सभ्य देशों में नाटक सदा से लोकानुरंजन का प्रमुख साधन रहा है। इसे दृश्य काव्य कहा जाता है, क्योंकि नाटक में काव्य के अतिरिक्त गीत, वाद्य, नृत्य, आलेख्य, देश-विन्यास, दृश्य, अभिनय आदि अनेक कलाओं का एक साथ रस मिलने के अतिरिक्त काव्यानंद भी प्राप्त होता है।

18.1.1 नाटक का उद्भव

यूनान और दूसरे देशों की तरह भारत में भी नाटक का उद्भव धार्मिक अनुष्ठानों से हुआ। धार्मिक कृत्यों को जिनमें कोई न कोई नाट्य मूलक अभिव्यक्ति होती थी, नाटक का मूल-स्रोत माना गया है। भरतमुनि द्वारा ईसा से लगभग एक हजार वर्ष पूर्व रचित भरतमुनि के 'नाट्य शास्त्र में वर्णित भारतीय धारणा के अनुसार एक बार देवताओं ने ब्रह्मा से एक ऐसे मनोरंजन अथवा खेल की रचना करने के लिए प्रार्थना की, जिसे सभी लोग देख और सुन सकें। अत: ब्रह्मा न ऋग्वेद से पाठ्य (आख्यान और संवाद), सामवेद से गति, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस लेकर एक पांचवें वेद 'नाट्यवेद' की अवतारणा की। उन्होंने एक रंगशाला का निर्माण कराया और भरतमुनि से, जिन्हें नाट्य शास्त्र का प्रणेता माना जाता है, रंगशाला में नाट्य सिद्धान्तों को कार्यान्वित करके प्रदर्शित करने को कहा। इस प्रकार जो पल्ला नाटक खेला गया, उसमें देवताओं और दानवों का युद्ध दिखाया गया था। इस प्रदर्शन के साथ ही भरत के नाट्य शास्त्र के अनुसार नाट्य मीमांसा का सूत्रपात हुआ।

18.1.2 नाटक की परिभाषा

भरतमुनि द्वारा नाट्य शास्त्र में दी गई -नाटक की परिभाषा के अनुसार-समस्त अंगों, उपांगों और गतियों को क्रम से व्यवस्थित कर जिसका अभिनय किया जाए, वही नाटक है जिसमें कोमल व ललित पद और अर्थ हों, द्वन्द्व हो।

प्रख्यात व्याकरणविद् पाणिनी नाट्य की उत्पत्ति 'नट्' धातु से मानते हैं। मोनियर विलियम्स के अनुसार 'नट्' धातु 'नृत्' धातु का प्राकृत रूप है। न और नृत् दोनों धातुएँ ऋग्वेद काल से प्रचलित हैं। दोनों का प्रयोग स्वतंत्र एवं निरपेक्ष रूप में होता आया है। नट् धातु का अर्थ अभिनय था।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के अनुसार- नाटक शब्द का अर्थ है, नट लोगों की क्रिया जिसे अभिनय कहते हैं। बाबू गुलाब राय के अनुसार- नाटक जीवन की शब्दगत अनुकृति है जिसे सजीव पात्रों द्वारा एक चलते-फिरते सप्राणरूप में प्रस्तुत किया जाता है। आधुनिक धारणा के अनुसार- नाटक जीवन की व्याख्या है. जो हमारी समस्याओं और उनके हलों को हमारे सम्मुख प्रस्तुत करता है। नाटक मानवीय अमिव्यक्ति का श्रेष्ठ साधन है।

18.1.3 नाटक के मूल तत्व

नाट्यशास्त्र के प्रथम पाश्चात्य आचार्य अरस्तु ने ड्रामा के पांच प्रधान तत्व माने हैं-

(1) कथा वस्तु (2) चरित्र चित्रण

(3) शैली (4) विचार, और

(5) शिल्प और संगीत

भारतीय धारणा के अनुसार नाटक के निम्न मूल तत्व हैं-

(क) विषय वस्तु (ख) कथानक

(ग) चरित्र चित्रण (घ) देश, काल

(ड) कथोपकथन-

(I) नाट्य भाषा

(II) संवाद

(च) शैली

नाट्य समीक्षक किसी भी नाटक की समीक्षा करते समय नाटक के उपरोक्त मूल तत्वों को ही दृष्टिगत रखते हुए अपनी समीक्षा के परिणाम पर पहुँचता है तथा लगभग इन्हीं तत्वों को अपनी समीक्षा का आधार बनाता है।

भारतीय धारणा के अनुसार नाटक की विषय-वस्तु उसका विषय है, जिससे वह नाटक सम्बन्धित है अर्थात् सामाजिक, ऐतिहासिक, धार्मिक आदि। कथानक स तात्पर्य नाटक की कथा, उसका द्वंद्व, विरेचन, उत्कर्ष तथा उद्देश्य अथवा परिणाम है। पात्रों की चरित्रगत विशेषता तथा उसके अनुसार नाटक के चरित्रों का चित्रण आगामी तत्व है। तत्पश्चात् देश और काल और उसके बाद कथोपकथन जिसके अन्तर्गत नाटक की भाषा और उसके संवाद हैं। शैली के अधीन नाट्य शिल्प तथा नाटक की शैली विशेष जिसमें उसका मंचन किया जाता है। उदाहरण के लिए वास्तविक शैली, प्रयोगात्मक शैली अथवा लोकनाट्य शैली।

18.2 नाट्य समीक्षा

समीक्षा का अर्थ है- सम्यक ईक्षा अर्थात् अच्छी तरह देखना अथवा पड़ताल करना। किसी कला, रचना या विषय के सम्बन्ध में प्रतिपादित सिद्धान्तों के आधार पर प्रत्येक तत्व का विवेचन करना अर्थात् विभिन्न पहलुओं से उसकी पडताल यानी समीक्षा करना। जब नाटक के सम्बन्ध में उसकी रचना, उसके स्वरूप, उसके विभिन्न तत्वों, गुण-दोष तथा शिल्प आदि का विवेचन किया जाता है, तो उसे नाट्य समीक्षा कहते हैं।

18.2.1 समीक्षक की योग्यताएँ एवं उसका कर्म

नाट्य समीक्षक के लिए नाट्य लेखन एवं रंगमंच की जानकारी जरूरी है.। समीक्षक का मन संवेदनशील होना चाहिए तथा तर्क- क्षमता के साथ उसे नाट्य कला का व्यापक लान तथा उसकी पृष्ठभूमि की जानकारी होनी चाहिए।

नाट्य रचना के विविध तत्वों और रूपों का स्वयं पठन अथवा दर्शन कर दूसरी के लिए उसे दृष्टव्य बनाना ही समीक्षक का कर्म है। समीक्षक को अपनी दृष्टि में निष्पक्ष हौना चाहिए।

18.2.2 नाट्य समीक्षा के सिद्धान्त

नाट्य समीक्षा के सिद्धान्तों का आधार मुख्यत: नाटक के मूल तत्व अर्थात् विषय वस्तु, कथानक, चरित्र चित्रण, देश, काल, कथोपकथन तथा शैली हैं।

नाटक की समीक्षा दो दृष्टि से की जानी चाहिए-

1. नाट्य -रचना, और
2. नाट्य प्रयोग

नाट्य -रचना की समीक्षा में हमें इन प्रश्नों का उत्तर देना चाहिए-

1. नाटककार ने किस उद्देश्य से नाटक की रचना की है तथा नाटक के विषय के चुनाव के पीछे उसकी दृष्टि?
2. उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए नाटककार ने किस प्रकार का कथानक बुना या गढ़ा है; किस प्रकार के कितने पात्रों और घटनाओं का समावेश किया है?
3. किस प्रकार नाटककार ने घटनाओं और पात्रों के संयोजन में कुतूहल का निर्वाह करते हुए पात्रों और घटनाओं का सामंजस्य स्थापित किया है?
4. कितने पात्रों का प्रयोग किया गया है? उनमें से कितने ऐसे हैं जिनका संयोजन अनिवार्य है ?
5. कितने पात्र ऐसे हैं जिनके बिना भी नाट्य-व्यापार सरलता और सुचारू रूप से संचालित किया जा सकता था?
6. कितनी घटनाएँ ऐसी हैं, जो पात्रों के चरित्र-विकास और कथा-प्रवाह के संवर्धन की दृष्टि से उचित और अपरिहार्य थीं?
7. उनमें से कितनी घटनाएं सम्भव, स्वाभाविक और आवश्यक हैं?
8. नाटककार ने जो परिणाम निकाला है, वह उसके उद्देश्य की दृष्टि से कहाँ तक संगत है?
9. उस घटना के परिणाम को किसी दूसरे रूप में प्रस्तुत करने से उस उद्देश्य की सिद्धि हो सकती थी या नहीं?
10. स्वाभाविक होते हुए भी वह परिणाम कहाँ तक वांछनीय और घटनाओं के प्रवाह में अनुकूल है?

विभिन्न पात्रों के चरित्र-चित्रण के लिए प्रयुक्त भाषा-शैली का भली-भांति परीक्षण करते हुए नाट्य-समीक्षक को यह देखना चाहिए कि-

1. विभिन्न श्रेणी के पात्र किसी भाषा का प्रयोग करते हैं; वह भाषा उक्त श्रेणी के पात्र की मर्यादा के अनुकूल है या नहीं?
2. भाषा के प्रयोग में सम्भावना और आवश्यकता के साथ-साथ स्वाभाविकता तथा औचित्य का भी विचार किया गया है या नहीं? औचित्य से तात्पर्य यह है कि संवादों में परस्पर जोड़-तोड़, उत्तर-प्रत्युत्तर की संगति और क्रम ठीक है या नहीं?
3. उसका कितना अंश कथा-प्रवाह को आगे बढाने तथा पात्रों का चरित्र स्पष्ट करने के लिए आवश्यक है?

4. कितना भाग ऐसा है जिसे निकाल देने से नाटक के सौन्दर्य और कथा-प्रवाह में किसी प्रकार की कोई त्रुटि उपस्थित नहीं होगी?
5. नाटक के संवादों को सुनकर दर्शक सरलता से उन्हें समझ सकेंगे या नहीं?

दर्शक को नाटक का आनंद लेने में सबसे अधिक सहायता उसके संवादों से मिलती है। अत: समीक्षक द्वारा संवादों का परीक्षण इसी दृष्टि से करना चाहिए। इसके अतिरिक्त यह भी देखना चाहिए कि गीत, नृत्य और वाद्य आदि का संयोजन कहाँ तक उचित उपयुक्त और आवश्यक हुआ हैं

प्रयोग-दृष्टि से नाटक की समीक्षा करते समय यह देखना चाहिए कि-

1. नाटककार ने दृश्य-विधान इस क्रम से रखा है या नहीं कि नाटक की कथा-धारा का क्रम निर्बाध बना रहे?
2. नाटककार ने जो रंग निर्देश दिए हैं, वे असम्भव तथा अस्वाभाविक तो नही हैं?
3. रंग-निर्देशों में रंगदीपन तथा अभिनेता के लिए स्पष्ट निर्देश हैं या नहीं?
4. नाटककार ने अभिनेता के वाचिक, आंगिक और सात्विक अभिनय के लिए पर्याप्त अवसर दिए हैं या नहीं?
5. समीक्षक को निष्पक्ष भाव से यह देखना चाहिए कि नाटक जिन दर्शकों के लिए लिखा गया है, उनकी समझ में आ सकेगा या नहीं?
6. नाटक का कथा-क्रम ऐसा तो नहीं है कि दर्शक को उसके समझने में कठिनाई हो?
7. दृश्य-विधान दुरूह तो नहीं है कि नाट्य-प्रयोक्ता उसे प्रस्तुत ही नहीं कर सके?
8. पात्र-विधान जटिल तो नहीं है?
9. संवाद-विधान कठिन तो नहीं है कि अभिनेता उसमें अभिनय की संभावनाएँ ही न पा सके?
10. नाटक जिस रंगमंच के लिए लिखा गया है, उसके लिए उपयुक्त भी है अथवा नहीं? दर्शकों पर नाटक का क्या प्रभाव पड़ता है? क्या नाटककार अपने उद्देश्य में सफल हुआ?

उपरोक्त सभी प्रश्नों का उत्तर देने पर ही नाट्य-समीक्षा पूर्ण होती है।

18.2.3 पठित नाटक और अभिनीत नाटक की समीक्षा में अंतर

किसी नाटक का पाठ और उसका मंचन दो अलग बातें हैं। नाट्य-रचना तथा नाट्य-प्रयोग, दोनों के सम्बन्ध में विस्तार से चर्चा की जा चुकी है, परन्तु यहीं इसका उल्लेख करना आवश्यक है कि जब हम किसी मंचित नाटक पर उसकी समीक्षा की दृष्टि से विचार करते हैं तब हम रंगमचीय कार्य की भी समीक्षा करते हैं, जिसमें नाट्य-निर्देशन, अभिनय, दृश्य-विधान, वेश-भूषा, रंग-दीपन तथा नाटक के तत्वों सहित प्रदर्शन का दर्शकों पर प्रभाव भी सम्मिलित है।

कुछ नाटक ऐसे होते हैं, जो मनोविनोद करते हुए शान और सदाचार भी प्रदान करते हैं। कुछ नाटक ऐसे होते हैं जो केवल मनोरंजन करते हैं। सभी नाटकों की अलग-अलग परिधियां और स्तर होता है। समीक्षक को हर नाटक को उसकी विशेषता के साथ समझना और परखना चाहिए।

पश्चिम के नाट्य समीक्षक विलियम आर्चर ने गंभीर नाटक की समीक्षा के लिए जो सिद्धान्त बताया है उसमें नाटक समीक्षक को निम्न प्रश्नों का उत्तर देना चाहिए-

1. क्या समीक्षक नाटक में जीवन के दृश्य ओर श्रव्य रूपक का विशुद्ध अनुकरण या प्रतिरूप किया गया है।
2. क्या नाटक की कथा का विकास तथा पात्रों का चरित्र चित्रण स्वाभाविक एव प्रभावी है?
3. क्या रंगमंच के पूरे साधनों का श्रेष्ठतम उपयोग किया गया है?
4. क्या नाटक दर्शकों के हृदय में रुचि, आशा तथा मानवीय अनुभूति के भाव उत्पन्न करने में सफल रहा।
5. नाटक में केवल मनोरंजन है या उससे दर्शक को कोई अनुभव भी मिलता है?

18.2.4 नाट्य समीक्षा का प्रारम्भ

भरत के नाट्य शास्त्र में नाट्य मीमांसा का उल्लेख है। यह एक वास्तविकता है कि भारतीय रंगमंच के प्रारम्भिक दौर के बारे में हमारी निश्चित जानकारी बहुत कम है। यह कहा जा सकता है कि हमारे देश में भी नाट्यात्मक कार्य की शुरूआत आदिम अनुष्ठानों से हुई। वैदिक युग के यज्ञों से सम्बन्धित कर्मकांड में नाट्य-जैसी कई स्थितियाँ और क्रियाएँ थीं। ऐतिहासिक युग के बौद्ध और जैन ग्रन्थों में साधुओं के लिए नाट्य-प्रयोग देखना वर्जित कहा गया है, जिससे आभास होता है कि ऐसे प्रयोग इतने आकर्षक होते थे कि उन्हें देखने पर तपस्वियों के मन चंचल होने की संभावना थी। ईसा-पूर्व चौथी शताब्दी मे रचे गए पाणि के विख्यात ग्रंथ ' अष्टाध्यायी' में नट्सूत्र और नाट्याचार्यो का उल्लेख है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में रंगोपजीवी पुरुषों तथा नाट्य, नृत्य, गीत आदि की चर्चा है।

उक्त सभी संदर्भ ईसा-पूर्व पांचवीं-छठी से लगाकर दूसरी- तीसरी सदी के हैं जो इस भारत में रंगकार्य की परम्परा का अत्यन्त प्राचीन होना सूचित करते हैं। भारतीय जीवन में नाटक और रंगकार्य के महत्त्व का ही प्रमाण है कि भरत मुनि के नाट्य शास्त्र को पांचवें वेद का दर्जा दिया गया। उरुभंग स्वप्न वासवदत्ता. अभिज्ञान शाकुंतलम् विक्रमोर्वशीयम्, मृच्छकटिकम्, मुद्राराक्षस. उत्तररामचरित आदि संस्कृत नाटकों की लंबी सूची के आधार पर यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि इन नाटकों का विश्लेषण अथवा मूल्यांकन अवश्य किया गया होगा।

यूरोप में ईसा-पूर्व पाँचवीं शताब्दी रो इस प्रणाली का प्रचार माना जाता है। त्रासद के सिद्धान्तो का सर्वप्राचीन व्यवस्थित विश्लेषण अरस्तु के काव्यशास्त्र में मिलता है। सिसरो, किवन्तीलियन और आउलस गेलियस तथा होरेस की रचनाओं में नाटक के सम्बन्ध मे विवेचन मिलते हैं। पुनर्जागरण काल के सभी समीक्षावादियों ने विरेचन (कथार्सिस) तथा अरस्तु व होरेस के सिद्धान्त को नाट्यालोचन का आधार बनाए रखा। इस काल मे फ्रांस में रंगशाला की दृष्टि से नाटक पर विचार होने लगा। मोलिएर ने आनन्द देना या मनोरंजन करना ही नाटक का सबसे बडा गुण माना। एलिजाबथियन काल में शेक्सपियर ही नाटकीय पूर्णता का प्रतीक मान लिया गया। लासिंग ने इंग्लैण्ड में सन् 1767 में नये राष्ट्रीय थियेटर के नाटकों की जो समीक्षा लिखी. उसे ही वर्तमान नाटकीय समीक्षा का प्रारम्भ समझा जाता है। बर्नार्ड शॉ ने इरा समीक्षा प्रणाली को अपने नाटकों की भूमिका द्वारा तथा उस काल विशेष के अन्य नाटकों की समीक्षा के माध्यम से विकसित किया।

18.2.5 हिन्दी रंगमंच का प्रारम्भ

ईस्ट इण्डिया कम्पनी कं साथ शेक्सपीरियन थियेटर ने भी भारत में प्रवेश किया तथा अठाहरवीं शती के उतरार्द्ध में धनाढ्य पारसियों ने इस थियेटर को अपनाया तथा मून लाइट, न्यू अल्फ्रेड थियेटर आदि पारसी नाटक कम्पनियों मुम्बई, कलकत्ता आदि नगरों में स्थापित कीं। इन नाटक कम्पनियों ने शेक्सपियर के नाटकों के अनुवाद तथा पौराणिक कथानकों पर आधारित नाटक खेले। नारायण प्रसाद बेताब, आगा हश्र काश्मीरी, राधेश्याम कथावाचक उन दिनों के प्रमुख नाटककार थे। धनाढ़य पारसियों द्वारा अपनाए गए इस रंगमंच को पारसी रंगमंच कहा गया। यह हिन्दी का एकमात्र व्यावसायिक रंगमंच। यह रंगमंच शेक्सपियर को नाट्य शैली पर आधारित था, जिसमें प्रखर हाव-भाव, चेष्टाएँ, अति- नाटकीय स्थितियों, संगीत ओर प्रहसनात्मक अंश होते थे। सन् 1865 में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने नेशनल थियेटर, बनारस के लिए अंधेरी नगरी' नामक नाटक लिखा।

नाट्यविद् पारसी रंगमंच से ही हिन्दी रंगमंच की शुरूआत मानते हैं। परन्तु लोक-नाट्यीविद इससे सहमत नहीं हैं। उनके मतानुसार हिन्दी रंगमंच को शुरुआत लोक-नाट्यों से हुई। सन् 1865 में भारतेन्दु द्वारा रचित नाटक 'अंधेरी नगरी' के में ' तत्व पारसी रंगमंच से प्रभावित प्रतीत होते हैं, यद्यपि समग्र रंगमंच की जो कल्पना लोक-नाट्य में की गई है, उसके सभी तत्व इस नाटक में हैं। उन्नीसवीं शती के प्रारम्भ में मूक तथा उसके बाद वाक् फिल्मों के प्रादुर्भाव से पारसी रंगमंच को झटका लगा और उसके लगभग सभी कलाकार फिल्मों में चले गए। उन्नीसवीं शती के पूर्वार्द्ध तक जयशंकर प्रसाद, हरिकृष्ण प्रेमी, उपेन्द्रनाथ अश्क अनेक नाटककारों ने हिन्दी रंगमंच को समृद्ध किया।

देश की आजादी के बाद राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय की स्थापना तथा और छठे दशक में भारत के सभी प्रमुख नगरों में रवीन्द्र रंगमंचों की स्थापना के बाद हिन्दी रंगमंच का शैली, कथानक, अभिनय, प्रस्तुतीकरण आदि कई दृष्टियों से विकास हुआ तथा रंगकर्म की विभाजित समीक्षा की जाने लगी।

18.2.6 हिन्दी नाट्य समीक्षा की वर्तमान स्थिति

आजादी के बाद के पिछले पचास वर्ष हिन्दी नाटक और रंगमंच की वयस्कता के पांच दशक हैं। इसके दौरान नाट्य लेखन, अभिनय, निर्देशन, प्रस्तुति, तकनीकी पक्ष-सभी में अभूतपूर्व विस्तार और परिष्कार हुआ है। नयी प्रयोगशीलता और पारस्परिक नाट्य तत्वों के पुनराविष्कार की प्रवृत्तियाँ सक्रिय हुई हैं। इसके साथ ही नाट्य की जिम्मेदारियाँ भी बढ़ी हैं और उसमें सक्रियता आई है। आज प्राय: प्रत्येक पत्र-पत्रिका में नाट्यालेख अथवा नाट्य समीक्षक की समीक्षा प्रकाशित की जाती है। इससे नाट्य समीक्षक की भूमिका महत्वपूर्ण हो गई है। आज नाट्य समीक्षा करने वाले बहुत हैं, लेकिन नाट्य विधा को हर कोण से समझने वाले समीक्षकों की कमी है। इसका एक मुख्य कारण यह रहा है कि हिन्दी में सशक्त नाट्य समीक्षा की परम्परा न होने के कारण नाटक करने वाले और दर्शक इस कला को अधिकतर मनोरंजन के माध्यम तक ही सीमित समझते रहे हैं।

देश की आजादी के बाद गत पचास वर्षो में अनेक कालजयी नाट्य रचनाएँ रची गई हैं। उनमें प्रमुख हैं, धर्मवीर भारती कृत ' अंधायुग', मोहन राकेश द्वारा रचित 'आषाढ़ का एक दिन', 'आधे अधूरे'. भीष्म साहनी कृत 'हानूश', लक्ष्मीनारायण लाल का ' अब्दुल्ला दीवाना', 'सूर्यमुख' आदि। हिन्दी नाटकों की समीक्षा के क्षेत्र में जो प्रमुख समीक्षक कार्यरत हैं, उनमें डॉ. नेमिचन्द्र जैन, डी. गिरीश रस्तोगी,

डी. जयदेव तनेजा, डॉ. विष्णुकान्त शास्त्री, डॉ. रामगोपाल बजाज, डॉ. सुरेश अवस्थी, डॉ. सत्येन्द्र तनेजा, डॉ. विशिष्ट नारायण त्रिपाठी और डॉ. प्रतिभा अग्रवाल के नाम उल्लेखनीय हैं।

18.2.7 हिन्दी में रंग-पत्रिकाएँ

हिन्दी में रंग- पत्रिकाओं का प्राय: अभाव है। डॉ. नेमिचन्द्र जैन द्वारा सम्पादित 'नटरंग' त्रैमासिक एक मात्र ऐसी रंग-पत्रिका है जो सन् 1965 से निरन्तर प्रकाशित हो रही है और इसके अब तक पचास से अधिक अंक प्रकाशित हो चुके हैं। देश में प्रकाशित होने वाली रंग-पत्रिकाओं में एकमात्र अपवाद बंगला में छमाही प्रकाशित होने वाली ' बहु रूपी' पत्रिका है जो गत चालीस वर्ष से भी अधिक अवधि से निरन्तर छप रही है। भारत ही नहीं, संसार के दूसरे देशों में भी, जैसे इंग्लैण्ड में 'ड्रामा, थिएटर क्वार्टरली या अमरीका में 'ड्रामा रिव्यू जैसी स्तरीय रंग-पत्रिकाएँ भी नियमित नहीं निकल पातीं। हिन्दी में दो अन्य रंग- पत्रिकाएँ हैं- जोधपुर से राजस्थान संगीत नाटक अकादमी द्वारा प्रकाशित 'रंगयोग' तथा राजकमल नायक के संपादन में भोपाल से प्रकाशित होने वाली पत्रिका 'रंग संवाद'। ये दोनों रंग-पत्रिकाएँ भी लगभग अनियतकालिक हैं। नटरंग रंग योग और रंग संवाद में नाटकों एवं नाट्य प्रदर्शनों की समीक्षाएँ प्रकाशित की जाती हैं

18.3 नाट्य समीक्षा के उदाहरण

यहाँ हिन्दी के तीन महत्वपूर्ण नाटकों - मोहन राकेश द्वारा लिखित ' आधे अधूरे'. भीष्म साहनी कृत 'हानूश' तथा डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल के नाटक 'सूर्यमुख' की क्रमश: डॉ. विष्णुकान्त शास्त्री, डॉ. गिरीश रस्तोगी और डॉ. नेमिचन्द्र जैन द्वारा की गई समीक्षाएँ उदाहरण के लिए दी जा रही हैं।

इन नाट्य समीक्षाओं में नाट्य-लेखन, कथानक और उसका विकास, नाटक के पात्र, नाट्य शिल्प और रंगमंच. नाट्क भाषा और संवाद की विभिन्न कोणों से समीक्षा की गई है। किसी नाटक की समीक्षा लिखते समय इन समीक्षाओं से मार्गदर्शन प्राप्त किया जा सकता है :

18.3.1 आध अधूरे

आधे अधूरे में विघटित होते हु ए आज के मध्यवर्गीय शहरी परिवार का कडुवाहट-भरा चित्रण किया गया है, जिसकी विडंबना यह हे कि व्यक्ति स्वयं अधूरा होते हु ए भी औरों के अधूरेपन को सहना नहों चाहता- काल्पनिक पूरेपन की तलाश मे भटक कर अपनी और दूसरों की जिंदगी को नरक बना देता है। नाटककार इस प्रक्रिया को विशेष व्यक्तियों. परिवारों तक सीमित न मानकर सामान्य मानता है। इसलिए वह अपने पात्रों को कोई विशिष्ट नाम न देकर उन्हें पुरुष एक, पुरुष दो, पुरूष तीन, पुरूष चार, स्त्री, बडी लडकी. छोटी लडकी, लडका कहता है। तथापि यह स्पष्ट है कि उसने पात्रों को व्यक्तिगत वैशिष्ट्य देने के स्थान पर उनके जातिगत रूपों में उभारना चाहा है। तभी उसकी यह मान्यता है कि रास्ते में टकराने वाले किसी भी व्यक्ति को लेकर यह नाटक चल सकता है।

इस नाटक के स्त्री- पुरुष के आपसी निजी सम्बन्ध करीब-करीब चुक गए हैं और अब साथ-साथ रहने की और सामाजिक सम्बध ढोने की कटुता ही शेष है। पुरूष- महेन्द्रनाथ जीवन में असफल होकर स्त्री की कमाई की रोटियाँ तोड़ रहा है। वह गृहपति की मर्यादा से वंचित होकर भी तानो-व्यंग्यों से स्त्री को छेदता रहता है। स्त्री, सावित्री शुरू से ही अपनी कल्पना के पूरे पुरुष की तलाश में रही। महेन्द्रनाथ

उसकी दृष्टि में नितांत अधूरा था, हर बात के लिए दूसरा पर निर्भर। परिणामत: विवाह के प्रेम- घृणा सम्बन्धों में घृणा ही उभरती है जिससे सावित्री भी क्रमश: घुटती-टूटती और बिखरती जाती है।

फिर भी अपने पैरों पर खड़ी वह स्त्री परिवार को चलाते रहने की कोशिश नहीं छोड़ती। अशोक के लिए सिंघानिया की खुशामद में रहती है। पति और बच्चों से धिक्कारे जाने पर जगमोहन के साथ चले जाने का निर्णय कर लेती है। किन्तु वहाँ भी हाथ आती है निराशा और विफलता ही। जगमोहन जो उसे लेकर जीवन शुरू करने के लिए लालायित था, वही बदली परिस्थितियां में उसकी ढलती उम्र को देखकर कोई दु:साहसिक कदम उठाने के लिए तैयार नहीं होता। इस स्थिति में आता है जुनेजा, जो उसके घिनौने स्वार्थपरक रूप को उघाड देता है, जिससे वह एकदम कुचल-सी जाती है। भाग्य का क्रूर परिहास के रूप में उसी समय महेन्द्रनाथ अशोक के साथ घर लौट आता है। कही से किसी को छुटकारा नहीं मिलता, न मिल ही सकता है।

नाटककार ने सावित्री को तनिक भी सहानुभूति का हकदार नहीं रहने दिया है। यह उसकी सरासर ज्यादती है। ऐसे परिवार में पले बच्चे स्वभावत: विकृतियों के शिकार होंगे ही। लड़का अशोक चलना शुरू करने के पहले ही विरक्त होकर बैठ गया है। काम- काज और जीवन के यथार्थ से मुंह मोड कर अभिनेत्रियों की तस्वीरों, यौन विषयक पुस्तकों के बीच जिंदगी बिता रहा है। मां की लाड़ली और सिर-चढी होने के कारण एकदम बिगड़कर बारह-तेरह वर्ष की अवस्था में ही बिन्नी कैसानोवा की कहानियां और स्त्री-पुरुष के यौन सम्बंधों में दिलचस्पी लेने लगती है तथा मुंहफट, आत्म-केन्द्रित बिगडी लडकी का नमूना पेश करती है। यही है हमारी आज की तरूण, किशोर पीढी।

यह पूरा नाटक अस्वीकार का नाटक है। बिना कोई हल या विकल्प पेश किए जो है, उसकी निरूपता को, विसंगति को तल्खी के साथ नाटक में उभार दिया गया हे। महानगरों के सामान्य मध्यवर्गीय परिवारों की स्थिति यही है ओर नाटक के अंतिम संकेत वाक्य के अनुरूप ही जीवन का अंधेरा अधिक गहरा होता जाता है। नाटककार न कोई सूरज उगाता है, न अंधेरे को महिमामंडित ही करता है। यथास्थिति से घृणा और परिणाम निरपेक्ष परिवर्तन की प्रतीक्षा वैसे तो सभी पात्रों में झलकती है, किन्तु सबसे अधिक मूर्त हुई है सावित्री के झ्स उद्गार में- 'एक दिन- दूसरा दिन, एक साल- दूसरा साल, कल तक- क्यों घर दफतर- -घर दफ्तर, सोचो, सोचो. चखचख- किरकिट- -क्या सोचो- -कुछ मत सोचो, होने दो. जो होता है। '

आषाढ़ का एक दिन' और 'लहरो के राजहंस' के बाद इरा प्रकार का क्रूर यथार्थवादी लिखा यह नाटक कुछ लोगों के लिए विपर्यय-सा लग सकता है, किन्तु सच्चाई यही है कि यह नाटक उनकी स्वाभाविक अगली कड़ी है। वे दोनो नाटक भी ऐतिहासिक मुखौटा लगाने के बावजूद आधुनिक स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों को पूर्व रागात्मक भावुकतापूर्ण मुग्धावस्था तथा दीर्घकालीन सहवास के अन्तर मोहभंग एव विच्छेद के सूचक हैं। इस नाटक मे उसके बाद भी साथ रहने की घिनौनी परिणति अंकित की गई है।

नाटक पढने ओर उससे भी अधिक उसका मंचन देखने के बाद आदमी गहरी परेशानी का तीखा अनुभव करता है जो इसको सफलता का निश्चित प्रमाण है।

18.3.2 हानूश

कथाकार भीष्म साहनी का यह पहला और अत्यन्त महत्वपूर्ण नाटक है। और यह अतिशयोक्ति नहीं है कि यह नाटक स्वयं भीष्मजी की नाट्य-लेखन-प्रतिभा और हिन्दी नाट्य-लेखन की शक्ति तथा सम्भावनाओं को उजागर करता है। प्रश्न उठता है कि लम्बे अर्से तक क्या साहित्य की रचना के बाद भीष्मजी नाटक की दिशा में क्यों प्रवृत्त हुए? वस्तुत: स्वतंत्रता के बाद नव नाट्य-लेखन और हिन्दी रंगमंच की जो तेज लहर तथा सार्थक सक्रियता आई उसने समग्र साहित्य-जगत और कला-जगत में एक नए वातावरण की सृष्टि की। हिन्दी नाटक और रंगमंच की वर्तमान आकर्षक स्थिति और चुनौतीपूर्ण लेखन ने कई कवियों और कथाकारों को आकृष्ट किया। सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, गिरिराज किशोर, मृदुला गर्ग, शान्ति महरोत्रा, मन्नू भण्डारी के साथ भीष्म साहनी भी नाट्य-रचना के क्षेत्र में आए। इस नई प्रवृत्ति से कुछ अच्छे नाटक हिन्दी नाट्य जगत को मिले।

'हानूश' की रचना के समय हिन्दी रंगमंच की गतिविधियॉ जितनी तीव्र थीं, नाट्य-लेखन की गीत उतनी ही धीमी थी। ऐसे समय में 'हानूश' साहनीजी के कथाकार में छिपे नाटककार की रचनात्मकता से पहला परिचय ही नहीं कराता, बल्कि सुखद आश्चर्य की अनुभूति भी कराता है। स्वतंत्रता के बाद अधिकांश हिन्दी नाटक बौद्धिकता, शिल्पगत प्रयोगों और नवीनता के आग्रह से ग्रस्त था। हिन्दी नाटक को अंतरिक शिल्प की सहजता और घनी मानवीय संवेदना की अपेक्षा थी। ऐसे समय में 'हानूश' ने अपनी अन्तरंगता. द्वंद्वात्मकता और सहज, सादगी-भरे कथ्य और शिल्प से स्वयं अपना स्थान बनाया।

भीष्म साहनी, का नाट्य-विधा से आंतरिक तनाव भी रहा है। 'हानूश' की रिहर्सल तथा मंचन के दौरान जो असीम आंतरिक आनन्द उन्हें उपलब्ध हुआ उसकी अभिव्यक्ति इस प्रकार हुई नाटक की दुनिया 'बड़ी आकर्षक और निराली दुनिया है। जिस तरह धीरे-धीरे एक नाटक रूप लेता है और रूप लेने पर एक नए संसार की जैसी सृष्टि हो जाती है, यह अनुभव बड़ा ही सुखद और रोमांचकारी होता है- अभिनेताओं के लिए अपने आस-पास की कारोबारी दुनिया का कोई अस्तित्व नहीं होता, उनके लिए अस्तित्व होता है नाटक की दुनिया का, जो महीने-दो-महीने में अस्तित्व में आएगी और आँख झपकते ही फिर टूट-फूट जाएगी। वर्षों बाद भी वह दुनिया मुझे बडी हृदयग्राही लगी और मन चाहा कि सब काम छोडकर फिर नाटक लिखूँ। ' यही आंतरिक और संवेदनशीलता थी जिसके कारण 'हानूश' तथा बाद के वर्षों में 'कबिरा खड़ा बाजार में और 'माधवी' जैसे सशक्त नाटकों की रचना भीष्मजी ने की।

'तमस ' उपन्यास के साथ 'हानूश' ने भी भीष्मजी की कलात्मकता और संघर्षशील सामाजिक चेतना को उजागर किया है। 'हानूश' एक कलाकार, संघर्षशील कलाकार की संवेदनात्मक अभिव्यक्ति है। हिन्दी नाट्य-लेखन की सारी पृष्ठभूमि, समस्याओं और आशंकाओं के बीच अपनी विशेष मानवीय संवेदनाओं के कारण भीष्मजी के इस प्रथम नाटक ने सभी निर्देशकों, रंगकर्मियों का ध्यान आकृष्ट किया। आज जबकि हिन्दी नाटक प्रयोग के नाना प्रपंचों के बीच से गुजरता हुआ एक खास रुचिवाले वर्ग के देखने-समझने की कला बनकर रह गया है, या नाट्य-लेखन की गीत में रंगकर्म की सक्रियता के मुकाबले ठहराव-सा आ गया है, 'हानूश' अपने शिल्प की सादगी. कथ्य के पैनेपन और तीव्र घनीभूत, तनावपूर्ण मानसिक स्थितियों के भावात्मक चित्रण के कारण दर्शक की आन्तरिक चेतना को झकझोरते

हुए सुखद आश्चर्य की अनुभूति कराता है। 'हानूश' में जीवन के उलझाव-भटकाव हैं और उन्हीं से बुनती जाती परिस्थितियों तथा परिस्थितियों की मार और चोट है। वहीं न कथा-विन्यास के स्तर पर कोई मकड-जाल बुना गया है. न पात्रों के चरित्र-चित्रण के स्तर पर। बिना किसी अनोखेपन, अजूबेपन के पात्र संघर्ष के बीच से सहज भाव से उभरते चले जाते हैं। निर्देशकीय दृष्टि से कुछ स्थलों के सम्पादन तथा रंगमंचीय दृष्टि से संवादों में किए गए मामूली परिवर्तन 'हानूश' द्वारा सम्प्रेषित सघन मानवीय संवेदना के प्रभाव को बढ़ाते हुए उसे सृजनात्मक स्तर पर एक श्रेष्ठ नाटक बना देते हैं।

18.3.2.1 कथानक और उसका विकास

सोवियत संघ के अपने प्रवास-काल में, 1960 के आस-पास पूर्वी यूरोप की यात्रा के दौरान भीष्मजी चेकोस्लोवाकिया की राजधानी प्राग पहुँचे। प्राग के पुराने गिरजाघर, मध्ययुगीन इमारतों तथा एक पुराने घण्टाघर की घड़ी को देखते हुए उसका इतिहास तथा तत्कालीन बादशाह द्वारा उस घडी के निर्माता को दिए गए विलक्षण पुरस्कार की कहानी का भीष्मजी के मन-मस्तिष्क पर जो अमिट प्रभाव पड़ा उसी ने इस नाटक को रचनात्मक स्वरूप प्रदान किया। चेक-इतिहास को घटना से सम्बद्ध होते हुए भी 'हानूश' ऐतिहासिक नाटक नही है. बल्कि पढने पर इतिहास का आभास भी नहीं होता। लेखक का उद्देश्य घडो को विलक्षणता. उसके आविष्कार की लम्बी कहानी बताना भी नहीं है. जैसाकि स्थूल दृष्टि से देखने पर लगेगा। इसके विपरीत नाटक सूक्ष्मस्तर पर मानवीय स्थिति. मानवीय नियति को प्रस्तुत करता हे। ताला बनाने वाले सामान्य मिस्त्री हानूश के माध्यम से एक कलाकार को सृजनच्छा शक्ति ओर संकल्प को तीव्रता को हो संवेदनशीलता से तीन अंको में प्रस्तुत किया गया है। इस नाटक में नाटककार ने एक रचनाकार की दुर्दमनीय सिसृच्छा, उसको विवशता, निरीहता और संकटापन्न स्थिति को पूरी तरह पहचाना ह।

मोहन राकेश के नाटक ' आषाढ़ का एक दिन' में साहित्यकार के अन्तर्द्वन्द्व का मूल प्रश्न तो उठाया गया था लेकिन उसकी सृजनेच्छा की आंतरिक आकुलता और पीडा को इतनी सघनता तथा तीव्रता से चित्रित नही किया जा सका था। 'हानूश' में लेखक की सम्पूर्ण चेतना इसी द्वंद्व और पीडा पर केन्द्रित है, इसमे अनावश्यक प्रणय-प्रंसग अथवा रोमांटिक वातावरण नहीं है। नाटक के इस मूल सत्य के साथ राजा को विरोधात्मक, विध्वंसात्मक शक्ति और जनशक्ति एव सामाजिक शक्ति के संघर्ष को चुना गया है। नाटक मे व्यवस्था को कुटनीति क्रूरता. स्वार्थपरता, आशंकाग्रस्त दुर्बल मानसिक स्थिति के मौजूद होते हुएभी इसे इधर हिन्दी में लिखे गए कई नाटकों की तरह व्यंग्यप्रधान राजनीतिक नाटक या व्यवस्था-विरोधी नाटक नहीं कहा जा सकता, बल्कि इस नाटक के मूल स्वर हैं- सामान्य मनुष्य और उसकी कलात्मक संवेदनशीलता सृजनात्मक व्यक्तित्व की छटपटाहट, उसका दमन, निरीहता और हत्या, कलाकार के पारिवारिक तनाव ओर लगाव, सच्चा ओर स्वाभाविक वातावरण, उसका आर्थिक संकट, घरेलू सम्बन्ध ओर सहज परिस्थितियाँ।

पति-पत्नी के बीच सहज, कोमल आंतरिक सूत्र होते हुए भी अर्थ-संकट से पैदा हुआ जो तनाव है, वह स्थाई न होते हुएभी क्रूर सत्य हे- जो आदमी अपने परिवार का पट नहीं पाल सकता, उसकी इज्जत कौन औरत करेगी? पत्नी कात्या के ऐसे ही कडवाहट ओर पीडा-भरे संवादों से नाटक का प्रथम अंक प्रारम्भ होता है। पारिवारिक संकट, आपसी सम्बन्ध, हानूश का व्यक्तित्व, घड़ी बनाने की उसकी

आंतरिक लगन, कलाकार की सिसृच्छा उसका आंतरिक संकट स्थापित हो जाता है- सत्ता का विरोध और गहरी मानवीय करुणा भी हृदय को उद्वेलित कर जाती है।

दूसरा अंक 'हानूश', यानी कलाकार की सृजन-शक्ति, कला-चेतना और फिर सत्ता द्वारा उसके अमानवीय दमन की भयावह सच्चाई प्रस्तुत करता है। महाराज द्वारा हानूश की ऑखें निकलवाने का क्रूर आदेश, उस आदेश से तड़पे व्याकुल हानूश की स्थिति, चारों तरफ घनघोर सन्नाटा और दूसरी ओर घड़ी बजने की आवाज, खुशी में नाचने वालों की तालियाँ. समारोह का हर्षोल्लास, ' हानूश जुग-जुग जिओ' के स्वरों के बीच घायल हानूश का चीत्कार, पास मे अधिकारियों को आकर खडे हो जाना- जिस मार्मिक दृश्य का चित्रण करते हैं, वह रंगमंच की दृष्टि से अत्यन्त सशक्त तथा प्रभावशाली है। परस्पर विरोधी, तनावपूर्ण स्थितियों का गत्यात्मक विकास स्वाभाविक क्रम से होता चला गया है।

तीसरा अंक कलाकार की क्रूर, अमानवीय स्थिति को, दमित जनशक्ति की आंतरिक पीड़ा को सत्ता की खोखली अंधी नीति को व्यंग्य के स्तर पर ही नहीं. गहरे संवेदनात्मक स्तर पर मार्मिक अभिव्यक्ति देता है। कलाकार की मौत भले ही हो जाए. उसकी राजन-शक्ति, सामान्य मानव की आंतरिक शक्ति नहीं मर सकती। अन्त में कहे गए हानूश के शब्द- 'घडी कभी बन्द नही होगी'- इस सत्य का सख्त कर जाते हैं।

18.3.2.2 नाटक के पात्र

नाटकीय कथानक की मूल संवेदना का चित्रण और विस्तार मुख्यत: पात्रों के माध्यम से ही होता है. क्योंकि दृश्य माध्यम होने के कारण वहाँ लेखक स्वयं प्रकट नहीं होता, बल्कि पात्र ही उसका आधार होते हैं। आधुनिक नाटकों के पात्र प्राचीन शास्त्रीय परम्परा के अनुसार केवल दैवी. विशिष्ट या धीरोदात्त आदि वर्गो में विभाजित नहीं होते. ये मानवीय धरातल से जुड़े. अपने समय और परिवेश से उद्भूत होते हैं। भले ही वे ऐतिहासिक हों, या पौराणिक। भीष्म साहनी का यह नाटक अपने केन्द्रीय पात्र को ही नाट्य रचना का आधार बनाता है। हानूश केन्द्रीय पात्र तो है ही, वह जाता- जागता मनुष्य भी है- नितान्त सामान्य, लेकिन एक कलाकार की संवेदना और आकुलता लिए हुए उसके चरित्र-चित्रण से ही वस्तुत: भीष्मजी की बात कहीं अधिक प्रमाणित होती है यह नाटक ऐतिहासिक नाटक नहीं है, न ही इसका अभिप्राय घड़ियों के आविष्कार की कहानी कहना है। कथानक के दो-एक तथ्यों को छोडकर लगभग सभी कुछ ही काल्पनिक है। नाटक एक मानवीय स्थिति को मध्ययुगीन परिप्रेक्ष्य में दिखाने का प्रयास मात्र।

नाटककार ने बडी कुशलता से नाटक के आरम्भ में काफी समय तक हानूश को न दिखाकर उसके परिवार को, पत्नी कात्या, पुत्री यान्का और पादरी को दिखाया है, जिनकी बातचीत से ही दर्शक-पाठक हानूश के लिए उत्सुक हो जाते हैं। उसके प्रवेश से पूर्व ही एक चरित्र का चित्र-सा खिंच जाता है। उसका प्रथम प्रवेश ही नाटककार ने जिस तन्मय, आत्मलीन और अपने प्रिय काम में डूबी स्थिति में कराया है, और जिस तरह घड़ी ठीक करते समय बार-बार बन्द होती है, चलती है उसी से हानूश के व्यक्तित्व, उसके कलाप्रिय मन के संघर्ष, प्रयत्न और बेचैनी को प्रस्तुत किया गया है।

घड़ी के उपकरणों को छूने में भी उसकी रचना की आकुलता और तन्मयता के क्षण सामने आते हैं। सपने देखने में नहीं, सोचने और करने में उसका विश्वास है। पारिवारिक, आर्थिक संकट और

बाहरी दबावों के बीच भी वह अपने को रचना-कार्य से अलग नहीं कर पाता। वह यह भी नहीं जानता कि दुनिया में कोई क्रांतिकारी परिवर्तन या विकास लाने के लिए वह यह घडीसाजी का काम कर रहा है या घड़ी बनाकर वह दुनिया ही बदल डालेगा। बाहय परिस्थितियाँ उसे भयभीत करती हैं, आतंकित करती हैं। उसे इस द्वंद्व से भी गुजरता पडता है कि हमें जो मिला नसीहत करने वाला ही मिला. आखिर इस छोटे से दिमाग में कितनी नसीहत समा पाएगी? उसी की चरित्र-रचना से नाटककार ने धर्म और समाज की विसंगतियों को, राजनीति के हथकण्डों को चारों ओर संकेतित किया है। साथ ही, यही परिस्थितियॉ और विसंगतियों उसके चरित्र के सूक्ष्म स्तरों को, द्वंद्व को अभिव्यक्त भी करती है।

आर्थिक संकट दाम्पत्य संबंधों में अस्थायी कटुता अवश्य लाता है पर वस्तुत: हान एक कोमल-हृदय प्राणी, दायित्वपूर्ण मनुष्य और जीवन के कटु सत्य का भोक्ता, लेकिन रचनाशील प्राणी है। हानूश की बाहरी और मानसिक सरलता, निश्छलता, घड़ी बनने पर उसका आहलाद और सादगी मन को छूती है। माँगे हुए वस्त्र पहनने पर उसकी यह टिप्पणी कितनी सांकेतिक है- वाह! बहुत अच्छे जूते हैं। जूता पादरी का, लबादा व्यापारी का! दरबार में जाने से पहले उसका भय और प्रत्येक का उसे तरह-तरह की शिक्षा देना उसके सीधे-सादे व्यक्तित्व को प्रतिष्ठित करता है। 'इस एक घडी को ही बनाने में मेरी जवानी ढल गई है हुजूर ' - जैसे वाक्य मानवीय नियति और पीडा को व्यंजित करते हैं। वस्तुत: यह द्वंद्व और इस द्वंद्व के विकसित होते चरण ही हानूश के चरित्र-चित्रण का सुन्दर पक्ष है। महाराज के आदेश के बाद उसकी हताशा, मानवीय विडम्बना, अकेलापन अवसाद, कटुता सब बढ जाती है। मानवीय विडम्बना का सबसे बडा उदाहरण यह है कि एक ओर उसे अंधा बना दिया गया है, दूसरी ओर राजदरबारी। घर अब बहुत सुंदर है बहुत कीमती लेकिन पात्र बहुत अकेला और अवसाद से भरा हुआ है। उसका अंधा किया जाना उसे जीवन के गहन अनुभवों से इतना भर देता है कि ' 'मुझे लगता है मैं सब कुछ देख रहा हूँ अंधों की दुनिया इतनी अंधियारी नहीं होती। " घडी उसके लिए कला के जुनून-जैसी है लेकिन अब, जब वह अंधा कर दिया गया है तो उसे लगता है कि उसके अंधेपन का मजाक उड़ाया जा रहा है। घड़ी बजती है तो उसे लगता है सब उस पर हँस रहे हैं। प्रतिक्रियास्वरूप एक अजीब-सा पागलपन उस पर छा जाता है। आशा, आस्था से भरे उसके मन में संकेतित किया है। महाराज के आदेश पर पकडने आए हुए अधिकारी से उसने यह वाक्य कि, 'मेरी ही घड़ी के पास उसे घसीटकर ले जाओगे या चलिए साहब, मैं आपके साथ चलूँगा। मैं आपके पीछे-पीछे वफहार कुत्ते की तरह आपके कदमों में लोटता हुआ चलूँगा क्योंकि मैंने एक दिन घड़ी बनाई थी, मानवीय अस्तित्व और रचनात्मक कार्य पर प्रश्न चिह्न लगाते हैं। तृतीय अंक तो हानूश के दंवद्व, अनुभव और भावनात्मक स्पर्श की ऐन्द्रिक अनुभूति के स्तर पर पाठक के मर्म को गहराई तक कचोटता है- अत्यंत कारूणिक और मार्मिक। अंत में, हानूश का यह कथन नाटक के लक्ष्य को सामने लाता है- घड़ी बन सकती है, घड़ी बंद भी हो सकती है। घडी बनाने वाला अंधा भी हो सकता है, मर भी सकता है लेकिन यह बहुत बडी बात नहीं है। जबकि चला गया, ताकि घड़ी का भेद जिन्दा रह सके, यही सबसे बडी बात है। क्रान्ति, सृजन, मनुष्य और उसके भविष्य में विश्वास इस नाटक का मूल-बिन्दु है। घड़ी चलने लगी है, घड़ी बंद नहीं होती-इसी में हानूश. अर्थात् कलाकार या रचनाकार को सृजनेच्छा उसका संकल्प ओर उसकी मानवीय अस्मिता में निष्ठा निहित है।

हानूश के चरित्र आर नाटक के कथ्य को उभारने के लिए भीष्मजी ने अनेक पात्रों की कल्पना की है, जिनमें एक ओर हैं पत्नी कात्या, बेटी यान्का, ऐमिल, जेकब, पादरी ओर बूढ़ा लोहार; तो दूसरी ओर है महाराज अधिकारी, लाट-पादरी जार्ज, टाबर आदि। ये सब अपने पारिवारिक संबंधों और राजनीतिक धार्मिक अंतर्विरोधों द्वारा हानूश के चरित्र को साकार करते हैं। पत्नी कात्या का नाटककार ने अत्यन्त स्वाभाविक चरित्र-चित्रण किया है। उसमें विषादजन्य कटुता भी है, अकेलापन 'भी है, जीवन की ऊष्मा भी है और आर्थिक विपन्नता से जन्मी ऊब भी, लेकिन साथ-ही-साथ वह सहायिका, उदारहृदया नारी भी है और सारी कटुता के बाद भी दाम्पत्य सम्बन्धों को मधुर बनाती है, सारे उलाहनों-आरोपों के बाद अंत में हानूश की मर्म वेदना को समझती भी है। उसका बोलने का उतार- चढाव, भाषा, मुहावरा भी उसके चरित्र तथा वातावरण के अनुरूप है। चरित्रों की इसी स्वाभाविकता के कारण प्रसिद्ध रंग समीक्षक श्री नेमिचन्द्र जैन ने कहा है- हानूश के चरित्रों में सहज विश्वसनीयता भी है, और आंतरिक संगीत भी है। मोहन राकेश के नाटक ' आषाढ़ का एक दिन' से गुजरती आधुनिक नाटक की विकास-यात्रा में नेमिचन्द्रजी ने 'हानूश' को 'कई कदम आगे का नाटक अपने अनुभव की प्रामाणिकता और विश्वसनियता के कारण' ही कहा है।

8.3.2.3 नाट्य शिल्प और रंगमंच

रचना वस्तुत: अपने शिल्प को अपने भीतर से ही ढाल-लेती है। अन्य विधाओं की तुलना मे नाटक के शिल्प में यह विशिष्ट अवश्य आ जाता है कि उसे तत्वों को साथ लेकर चलना पडता है- एक आत्माभिव्यक्ति और दूसरे उस अभिव्यक्ति का दर्शक तक संप्रेषण। नाट्यविधा इसी अर्थ में जटिल विधा है। उसकी साहित्यिक मूल्यवत्ता भी है। पर रंगमंच के माध्यम से उसका संप्रेषण उसकी सार्थकता और साहित्यिक मूल्यवत्ता का प्रमाण है। आचार्य भरत मुनि ने इसीलिए नाट्य शब्द तंग उपयोग करके उसमें नाट्यकृति, रगंशिल्प प्रस्तुतीकरण सभी को माना था। देवताओं ने नाटक खेलने के लिए ही ब्रह्म से माँगा था- क्रिडनीयकमिच्छायो दृश्य श्रव्य च यद् भवेत्। शायद इसीलिए भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भी 'क्रीड़ा, कौतुक, तमाशा, खेल, चमत्कार' - जैसे शब्दों का प्रयोग किया। नाटक शब्द भी है, दृश्य और कार्य भी है। दृश्यत्व, मानवीय क्रियाकलाप उसके अभिन्न पक्ष हैं जिसमें भाषा और शिल्प सभी सहायक होते हैं। रंगमंच नाटक के सम्प्रेषण का एक माध्यम है, पर यह सम्प्रेषण सीधा नहीं है, संवेदनात्मक है। वह एक जीवन्त विधा है। देश और काल की सीमा में वह जीवित का आभास देती है यद्यपि रंगमंच की व्यापक अवधारणा के अंतर्गत नाट्यकृति निर्देशक, अभिनेता, दर्शक, रंगशिल्पी, प्रेक्षागृह, मंच सभी पक्ष आ जाते हैं। रंगमंच का भी अपना व्याकरण और सौन्दर्य होता है, लेकिन मूलत: वह अनुभूति और संवेदना पर ही आधारित है। इसीलिए प्रसिद्ध नाट्य समीक्षक नेमिचन्द्र जैन ने कहा है- 'नाटक मूलत: काव्य का ही एक प्रकार है जिसमें सार्थक और महत्वपूर्ण अनुभूति की, सूक्ष्म संवेदनशीलता और गहन अनुभूति की आवश्यकता है।- वास्तव में नाट्यात्मक अनुभूति एक विशेष प्रकार की तीव्रतम काव्यात्मक अनुभूति ही है जिसमें संवेदनाओं, भावों और विचारों के अधिक प्रत्यक्ष और दृश्य खण्डों का सुनियोजित होता है। '

नाटक एक काव्य ही है। अपनी रंगमंच सम्बन्धी पुस्तक में शेल्डान चेनी ने रंगमंच की कला में बौद्धिकता को स्थान नहीं दिया है, अनुभूति और क्रिया को दिया है। रिचर्ड हाउदर्न अगर रंगमंच को

स्वयं कार्य की संज्ञा देता है तो वह यह भी कहना चाहता है कि रंगमंच इसीलिए जीवित कला है कि वह न केवल क्रिया करती है बल्कि सम्प्रेषण से त्वरित प्रतिक्रिया भी पैदा करती है। सही पूछा जाए तो नाटक की रंगमंचीयता कोई अलग प्रश्न नहीं रह जाता। हर नाटक में नाटककार की अपनी रंग-परिकल्पना होती है। नाटक में से ही उसकी रंग-संवेदनाओं. रंगबोध. रुढियों, अभिनय-शैली, रंग-शिल्प आदि को खोजना होता है। जहाँ तक भीष्म साहनी का सवाल है, 'हानूश' उनका पहला नाटक है और प्रवृत्ति से वह नाटककार अवश्य सिद्ध हुए हैं लेकिन किसी आग्रह या आंदोलन या कलात्मक पक्ष को सामने लाने या हिन्दी नाटक में शिल्प या रंगमंच की कोई नई अवधारणा प्रस्तुत करने की दृष्टि से उन्होंने नाट्यरचना नहीं की है, क्योंकि वह स्वभावत: कथाकार हैं। मोहन राकेश ने जिस प्रकार नाटक और रंगमंच, भाषा और शिल्प को एक मोड देना चाहा था वैसा कोई प्रयास या आन्दोलन-दृष्टि न होकर 'हानूश' एक सहज स्फुरण है। समकालीन भारतीय नाट्य-साहित्य के सन्दर्भ में 'हानूश' की चर्चा करते हुए श्री नेमीचन्द्र जैन ने लिखा है- 'राकेश के नाटकों की तरह यह भी यथार्थवादी शैली में लिखा गया है। यद्यपि इसमें शिल्प के स्तर पर वह प्रयोगशीलता और जमीन तोडने की कोशिश नहीं है- तथापि इसमें कथा और शिल्पगत तड़क- भड़क या वैचित्र्य के बिना ही जीवन की नाटकीय विडम्बना की बडी मार्मिक पकड़ है।'

इस सम्पूर्ण संवेदना की प्रस्तुति के लिए कोई आग्रह, कोई शिल्पगत प्रयोगवृत्ति नहीं है, न बौद्धिकता का बाना, न कोई आरोपण। बडी आसानी से नाटक का सारा कार्य- व्यापार दो स्तरों पर चलता है- हानूश का मध्ययुगीन कमरा और नगरपालिका का हाल, जो नाटक में निहित विरोधाभास, नाटक के व्यंग्य, संघर्ष और तनावग्रस्त स्थितियों के न सिर्फ एकदम विपरीत है, बल्कि दोनों स्थल दूरी और दरार दिखाने का काम करते हैं। नाटक का अन्तिम दृश्य घडी को मीनार में रखकर उसे जिस तरह नाटक की मूल चेतना से सहसा जोड दिया गया है, वह न सिर्फ महत्वपूर्ण है बल्कि घड़ी को मीनार में रख देना भी भीष्मजी की नाट्य-कल्पना का सुन्दर उदाहरण है, क्योंकि ऐसा करके उन्होंने नाटक की मूल चेतना को और प्रखर व सम्प्रेषणीय बना दिया है। यह अन्तिम दृश्य आंतरिक संघर्ष की तीव्रता के चित्रण की दृष्टि से बेजोड़ है। घड़ी की मीनार में अकेला हानूश- अंधा, उसकी एक-एक हरकत, हर एक वाक्य, हर कोशिश केवल सृजन की छटपटाहट का हिस्सा है। गहरे अँधेरे के बीच सिर्फ दो मशालों की रोशनी में सारी क्रियाएँ और आंतरिक शक्ति का गहरा अहसास नाटक को बिल्कुल भावुक नहीं बनने देता। दृश्यबंध के नये प्रयोग की निरर्थकता को व्यक्त करता हुआ 'हानूश' नाटक इरा सत्य को प्रमाणित करता है कि हिन्दी-रंगमंच को पश्चिमी रंग-शिल्प या कृत्रिम रंग-शिल्प की आवश्यकता नहीं है।

18.3.2.4 नाट्य भाषा / संवाद

नाट्यभाषा भी नाट्य के दृश्यपक्ष. उसकी रंगमचीयत को साकार करने का सबसे बडा आधार है। नाटक में शब्द की उचित और सार्थक जगह तलाश लेना. शब्दों का संयोजन, उनके मेल से उत्पन्न होने वाली लय. लयों का अंतर और वैपरीत्य, ध्वनियाँ. सख्त बिम्ब-सब मिलकर नाटक को सृजन तक लाते हैं। यद्यपि संवाद नाट्य-लेखन में अभिव्यक्ति का मुख्य आधार है लेकिन संवादों का सौन्दर्य और सार्थकता भी नाट्यभाषा की सूक्ष्म पहचान पर निर्भर करती है। संवाद केवल बाह्य रूप प्रदान नहीं करते, वही कथा-विकास करते हैं, वही पात्रों के व्यक्तिव को प्रकाशित करते हैं, उससे भी अधिक भाव-भंगिमाओं,

अभिनय, अंग-संचालन आरोह- अवरोह, वैचित्र्य और वैविध्य सभी लिए होते है- भले ही वे छोटे हों या लम्बे; और यह सौन्दर्य-सृष्टि नाट्यभाषा की सूक्ष्म पकड और अनुभूति से ही प्राप्त होती है। पुराने नाटकों की तरह भाषण-शैली. निरर्थक अलंकरण. अस्वाभाविक वाक्य-विन्यास, कथन-तत्व या लिखित रूप दोनों ही आज महत्वपूर्ण नहीं हैं। संस्कृतनिष्ठ भाषा भी रंगमंचीय हो सकती है, पर बोलचाल की भाषा भी एकरस और प्राणहीन हो सकती है, अगर नाटककार नाटक को नहीं पहचानता है।

नाटक की भाषा लचीली, जीवन की हरकत भरी भाषा होती है। नाटक भाषा को बनाता है, प्रचलित भाषा के अनुरूप अपने को ढालता है। समकालीन नाटककार को आज के जीवन की विविध लयों को पकडने, व्यंजनाओं और टोन के उतार-चढाव को नाटक में उतारने की आवश्यकता होती है। मोहन राकेश ने इसीलिए रंगमंच को दृश्य और श्रव्य माध्यम कहा और स्पष्ट किया कि 'रंगमंच में बिम्ब का उद्भव शब्दों के बीच से होता है। ' उनके लिए रंगमंच की भाषा निरन्तर एक तलाश थी, एक अंवेषण-प्रक्रिया जो अनंत ताजगी भरी हो सकती है। नाट्य भाषा शब्दों की ध्वनियों और लयों के द्वारा ही रंगमंचीयता- 'थिएट्रिकेलिटी'- को मूर्त्त कर सकती है। यही यह स्पष्ट है कि भीष्म साहनी ने नाट्यभाषा का कोई क्रान्तिकारी स्वरूप या उदाहरण नहीं दिया है- वह उनकी दृष्टि अथवा उद्देश्य भी नहीं है। बल्कि कथा-साहित्य और नाटक की भाषा के बीच के जटिल अंतर से अभी बहुत संघर्ष भी नहीं कर रहे हैं। प्राय: कहानी, उपन्यास की तरह उनके संवादों में स्वाभाविकता है, और उनका लहजा बहुत ही सहज है, जैसे आरम्भ में कात्या के संवाद एक घरेलू पत्नी की मानसिक, उसके अनुभवों की यन्त्रणा को उसी के मुहावरे में व्यक्त करते हैं। हानूश की मानसिक यातना, द्वंद्व, सृजनशीलता, संवेदनशीलता, तन्मयता, तल्लीनता, करुणा, पीड़ा आदि मनोभावों को भी उन्होंने सहज भाषा में बड़ी ऊष्मा और आतरिक छुअन के साथ अभिव्यक्ति दी है। घडी के नाजुक पुर्जों को छूने की उसकी कोमलता और आकुलता के अनुरूप ही भाषा और संवादों की अत्यन्त नाजुक गठन है, जिसे पूरे तृतीय अंक में महसूस किया जा सकता है।

यहाँ नाट्यभाषा में भारी-भरकम प्रतीक, अलंकार या बिम्ब-योजना का प्रयास नही है पर दरबारी कोट उतार फेंकना, घड़ी के पुर्जों में जंग लगना, घड़ी के एक-एक अंग से वाकिफ होना, घडो का बेजान पडा होना, छूते ही बिजली-सी काँप जाना, हथौडा चलाने में हानूश का अपने को असमर्थ पाना आदि सब ऐसे संकेत हैं जो अपनी सहजता में ही मर्म को छू जाते हैं। एक लम्बे सफल का एक ओर पडाव खत्म हुआ कात्या! न जाने अभी कितने पडाव बाकी हैं। घडी चलने लगी है। इतने सरल-सहज संवाद में मनुष्य के चारों ओर मौजूद विसंगतियों, व्यवस्था की कुरता से उत्पन्न यन्त्रणा का और सृजन का, अपनी रचना के सुख का आस्वाद एक साथ अन्तरा तक पहुँचता है और सम्प्रेषणीयता ही नहीं, प्रतिक्रिया भी होती है, संवेदना जागती भी है। यही भीष्म साहनी की नाट्यभाषा और संवाद-रचना की विशेषता है। समीक्षक नेमिचन्द्र जैन की ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं- कुल मिलाकर भाषा में चमक है, व्यंजना है और रवानी भी जो अपने आप में एक बडी सफलता है।

हानूश अपने आप मे बहुत लचीला नाटक है। उसमें अनन्त सम्भावनाएँ निहित हैं। नाटक का अपने शिल्प में लचीला होना उसकी अनिवार्य शर्त मानी जानी चाहिए। यही लचीलापन हानूश की भाषा में भी है- एक घरेलू सहज प्रवाह, बोलचाल की भाषा का सार्थक स्वरूप। कुल मिलाकर नाटक भाषा के निरर्थक विस्तार को काटता है और भाषा के बिना भी संकेतों के माध्यम से बहुत कुछ कहता है।

संकेत मानव की सर्वप्रथम भाषा है। इसका सार्थक प्रयोग नाटक के अन्तिम दृश्य मे अधिकारियों और हानूश की बातचीत में टकराव के अंदर हुआ है। स्वयं हानूश बहुत कम, टूटा-फूटा बोलकर भी संवादों की गहरी सांकेतिकता. अपने हावभाव और कुछ ही हरकतों से सारी विडम्बना और जटिलता को प्रस्तुत कर देता है। यह संयम और अनुशासन नाट्य-लेखन की विशिष्टता हो जाता है। किसी अभिनेत्री के अभिनय को देखकर विक्टर हयूगो ने कहा था- 'नाटककार की सृष्टि के अंदर ही वह ऐसी सृष्टि करती है जो लेखक को स्वयं चकित और चमत्कृत करती है। ' यद्यपि यह कथन अभिनय-कला की प्रशंसा में है लेकिन वस्तुतः इससे नाट्य-रचना के भीतर निहित प्रभावपूर्ण सम्भावनाओं और काव्य की संवेदना का, लय का अनुमान लगाया जा सकता है। भीष्मजी में वह क्षमता है। सचमुच, अन्तिम दृश्य और उस दृश्य तक पहुँचने की सारी प्रक्रिया उनके रंगमंचीय सौन्दर्यबोध को प्रभावित करती है। इसीलिए 'हानूश' अपनी द्वंद्वात्मक चेतना, संगठित रूप बंध, गतिशीलता, तनाव की जटिलता, करुणा और अंतर्मन को छू लेने वाली मार्मिकता के कारण एक अत्यन्त सफल नाटक बन गया है। यही कारण है कि नाटक के प्रथम प्रदर्शन (18 - 19 फरवरी, 1977 को आयोजित प्रथम राष्ट्रीय नाट्य समारोह के अवसर पर ' अभियान' की ओर से निर्देशक राजेन्द्रनाथ द्वारा प्रस्तुत) ने दिल्ली के दर्शकों का ध्यान बरबस अपनी ओर आकृष्ट किया तथा उसके बाद कई अन्य स्थानों पर कई संस्थाओं द्वारा इसकी सफलतापूर्वक प्रस्तुति की जाती रही है।

यद्यपि भीष्म साहनी ने ' हानूश' से नाट्य-लेखन का आरम्भ करके अपनी नाटक-रचना यात्रा को आगे विकसित किया है। उनके 'कबिरा खडा बाजार में' और 'माधवी' नाटक भी अपने- अपने स्तर पर कथानक ओर समकालीन रंगमंच की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण रचनाएँ सिद्ध हुई हैं फिर भी तुलनात्मक ढंग से विचार करने पर आज भी 'हानूश' न केवल उनकी श्रेष्ठतम रचना है, बल्कि समग्र आधुनिक हिन्दी नाट्य-साहित्य की महत्वपूर्ण उपलब्धि है, जो कथ्य, चरित्र. भाषा, अभिनय, शिष्प और साहित्यिक एवं रंगमंचीय मूल्यों की दृष्टि से यह अप्रतिम उदाहरण प्रस्तुत करती है कि किस प्रकार रचनाकार की अनुभूति से, घनी संवेदनात्मकता से एक सहज लेकिन गहन, मार्मिक और सार्थक रचना जन्म लेती है।

[डॉ. गिरिश रस्तोगी हानूश]

18.3.3 सूर्यमुख

लक्ष्मीनारायण लाल का नाटक सूर्यमुख महाभारत युद्ध के बाद कृष्ण की मृत्यु और द्वारिका के विध्वंस की पृष्ठभूमि को लेकर है। गृह-कलह तथा सत्ता-संघर्ष से मानवीय मूल्यों के विघटन के कारण पशुता का जो अंधकार छा जाता है, उसमें केवल प्रेम स्त्री-पुरूष का प्रेम ही आलोक बन सकता है, और बनता है। अपने आप में यह भाववस्तु बहुत सार्थक और महत्वपूर्ण जान पडती है और किसी भी नाटक को अत्यन्त प्रासंगिक तथा मूल्यवान बना सकती है। यह दुर्भाग्य की ही बात है कि सूर्यमुख में जिन और जैसे प्रसंगों तथा चरित्रों के सहारे यह बात कही गई है उनकी बुनियाद मे ही एक ऐसी कमजोरी है जो नाटक को सार्थक नहीं बनने देती। लेखक न प्रेम के इस आलाक का आधार बनाया है कृष्ण के पुत्र प्रदुम्न (जाने क्यो 'प्रद्युम्न' नही!) अपनी विमाता. कृष्ण की काल्पनिक अंतिम रानी. वेनुरती से प्रेम। इस प्रेम के कारण ही प्रदुम्न की द्वारिका में अप्रतिष्ठा होती है और कृष्ण की मृत्यु के बाद उसके भाई साम्ब तथा वाभ्रु को गृह-कलह भड़का देने का अवसर मिल जाता है। नगरवासियों

में विश्वास है इस पाप के अभिशाप स्वरूप ही नगर पर सारी विपत्तियों आयी हैं। प्रेम के कारण ही प्रदुम्न नगर की रक्षा और राज्य सिंहासन पर अधिकार करने में उदासीन, निष्क्रिय और दुविधाग्रस्त है। पर उसके प्रेम के बीच कृष्ण की छाया निरन्तर बनी रहती है और वह पूरी तरह वेनुरती का विश्वास नहीं कर पाता। इसलिए अंत में जीत कर भी वभ्रु के हाथों मारा जाता है। इसमें इतिहासकार व्यासपुत्र के निरन्तर षडयंत्र और विश्वासघात का भी हाथ है।

18.3.3.1 वस्तु परिकल्पना

वास्तव में, यह लक्ष्मीनारायण लाल के सबसे अराजकलापूर्ण कमजोर नाटकों में से है जिसमें विषय-वस्तु की परिकल्पना, प्रसंगों और चरित्रों की संयोजना और नाट्य-भाषा- सबका स्तर बड़ा हल्का है। उसकी विस्तार से चर्चा से कोई लाभ नहीं। यहाँ केवल उसके दो पक्षों पर कुछ प्रतिक्रीयाएँ प्रस्तुत हैं मिथक का उपयोग तथा भाषा।

अवैध प्रेम की नाटकीयता के लिए इस नाटक में कृष्ण कथा को जिस तरह मनमाने ढंग से तोड़ा-मरोड़ा गया है वह कल्पनातीत तो है ही, एक प्रकार की गैर-जिम्मेदारी और निष्ठाहीनता का भी सूचक है। महाभारत, भागवतपुराण, हरिवंश पुराण या किसी अन्य ग्रंथ में ऐसा कोई संकेत नहीं है जो प्रद्युम्न और कृष्ण के बीच इस द्वंद्व को उचित ठहरा सके। राक्षस पत्नी मायावती से प्रद्युम्न के प्रेम और विवाह को कृष्ण की किसी पत्नी से प्रेम के रूप में प्रस्तुत करना ऐसा निरर्थक स्वेच्छाचार है, जो अक्षम्य तो है ही, साथ ही जिससे आधुनिक रचना में मिथक के प्रयोग दारा बहुस्तरीय अर्थवत्ता की सृष्टि का उद्देश्य भी किसी तरह पूरा नहीं होता।

अगर कहानी गढनी ही है तो फिर मिथक का क्या लाभ, आधुनिक चरित्रों से भी काम चल सकता है। पुराण के अनुसार प्रद्युम्न, कृष्ण और रूक्मिणी के सबसे प्रिय और विश्वस्त पुत्र थे और उनके बीच ऐसा कोइ द्वंद्व या संघर्ष कमी पैदा नहीं हुआ। पर इस नाटक में प्रद्युम्न रुक्मिणी से कहता है- 'कृष्ण ने वेनुरती के लिए मेरे साथ निर्लज्ज व्यवहार नहीं किया? जो ब्रज में भागवत प्रेम के प्रतीक थे, उसी कृष्ण ने साधारण मनुष्य की तरह मुझसे वेनुरती के लिए संघर्ष किया। एक ओर मनुष्य कृष्ण, और दूसरी ओर मैं, और बीच में वेनुरती। अपशब्द कहते हुए उन्होंने मुझ पर आक्रमण किया था- 'मेरे अंक से वेनुरती को छीन लेने के लिए। '

इसी प्रकार यादवों में गृह-कलह आर उनका विध्वंस मदोन्मत्त होने के कारण प्रभास क्षेत्र में कृष्ण के जीवित रहते हुआ था जिसमें स्वयं कृष्ण और बलराम ने यादवों को मारा यानी यह व्याख्या तो संभव है कि स्वयं कृष्ण एक गृह-कलह में भागीदार बने जिससे यादव कुल नष्ट हुआ, पर यह नहीं कि कृष्ण की मृत्यु के बाद उनके बेटों में सत्ता हथियाने के लिए संघर्ष हुआ क्योंकि प्रद्युम्न आदि सारे यादव कृष्ण के सामने ही मरे थे, उनके बाद नहीं।

ऐसी ही बात व्यासपुत्र जैसे चरित्र के बारे में कही जा सकती हैं। महाभारतकार व्यास के पुत्र विख्यात शुकदेव थे जिन्होंने राजा परीक्षित को पूरा इतिहास सुनाया था। इसलिए इस पृष्ठभूमि में इतिहासकार व्यास-पुत्र से शुकदेव का ही बोध होगा। मगर सूर्यमुख में इतिहासकार व्यासपुत्र का जैसा नीच षड्यंत्रकारी और विश्वासघातक चरित्र दिखाया गया है उसका कोई औचित्य समझ में नहीं आता। कृष्ण के पुत्रों से वाभ्रु का कोई नाम नहीं आता, बल्कि वाभ्रु उस युग का अलग से एक अत्यन्त प्रतापी योद्धा था। उसे कृष्ण के पुत्र के रूप में प्रद्युम्न का प्रमुख प्रतिद्वंद्वी बनाने में कोई खास तुक नहीं

है। सूर्यमुख में प्रसंगों और चरित्रों की ऐसी मनमानी तोड़-मरोड़ की भरमार है। अधिक खेद की बात यह है कि पूरी भाववस्तु के संयोजन में बेहद विश्रृंखलता होने के कारण इस स्वेच्छाचारिता से भी अंततः कोई बड़ा गहरा नाटकीय उद्देश्य हासिल नहीं होता।

18.3.3.2 नाटक की भाषा

जहाँ तक भाषा का सवाल है, इस नाटक के प्रकाशित रूप में आम तौर पर भाषा वैसी ही अच्छी या बुरी है जैसी लाल के अन्य नाटकों में है। अक्सर वह साहित्यिक प्रकार की संस्कृतनिष्ठ भाषा लिखते हैं जिस पर रूमानियत और भावुकता-प्रधान कविता-कहानी का गहरा असर होता है। मुहाविरा उसमें या तो गलत होता है या आरोपित और बोझिला/कही-कहीं उत्तियों में चमत्कार और नाटकीय व्यंजना जरूर मिलती है। पर अवसर वह संवादों. शब्दों को सतही समानताओं आर अन्य प्रसंगों से लगातार जोड़ते रहने के कारण बडी बनावटी और अप्रासंगिक हो जाती है। जैसे-

प्रदुम्न: मेरी कल्पना करो साम्ब कितने दिनों तक मैं अपने मुख पर स्वयं मुखौटा बाँधे जीवित था।..... और उस मुखौटे के भीतर जो कुछ घट रहा था-

साम्ब: घट रहा था?

प्रदुम्न: द्वारिका में समुद्र बढ रहा था।

साम्ब: क्यों?

प्रदुम्न: साम्ब! तुम प्रश्न मत करो मुझसे।

साम्ब: तुम मुझे दंड ही तो दोगे।

प्रदुम्न: हर प्रेम एक दंड है।.....

सारे नाटक में या तो इसी तरह की भाषा है, या फिर और भी बोझिल, बनावटी दार्शनिक या गंभीर लगने वाले कथोपकथन वाली। प्रदुम्न और वेनुरती के बीच अधिकतर संवाद ऐसी ही कृत्रिम भाषा में हैं।

पर इस नाटक के मंच पर प्रस्तुत किए जाते वक्त लाल साहब ने कई बोलियों में कुछ दृश्य नए लिखे,या मौजूद दृश्यों में कई प्रकार के पात्रों की भाषा बोलियों की कर दी। जैसे, भिखारी ब्रजभाषा बोलते हैं, दो सैनिक तथा कुछ यदुवंशी अवधी तथा वेनुरती की सेविका भोजपुरी। अधिकतर इन स्थलों की भाषा न सिर्फ बेहद उग्र और फूहड हो गई है, बल्कि बोलियों का, खासकर भिखारियों की ब्रज भाषा का. प्रयोग अशुद्धियों से भरा और बेमुहाविरा है। अनायास ही लिए गए कुछ नमूने यह साफ जाहिर कर देते हैं

''धीरज राखो बहोत दान मिलेगा'

'जा जा नाहीं लतों तेरे हाथ छू दान'

'ओए प्रदुम्न, ताते मिलबै के ताई....'

'हमें तेरी धर्म राजनीति सों कष्ट लेना देना नाई.....

'ई ऊँची ऊँची बात अपन घर मा राखी।'

'खुद थूक के हमें चटाने आयी है।'

'हमको मारि के भिखारी कीन है ?'

इस तरह के बेशुमार वाक्य या वाक्यांश भिखारियो के संवादों में हैं। ब्रजभाषा बोलने वाले ये भिखारी यह गाना भी गाते हैं ' आजु मोरा राजा बिकैहै कोई लेलो। ' यह समझ में नहीं आता कि जिस भाषा की जानकारी काफी नहीं थी उसके इस्तेमाल की क्या मजबूरी थी?

अंधा युग की तरह इसमें भी दो सैनिक हैं। वे अवधी बोलते हैं, जो संस्कारहीन तो है ही, इतनी घटिया और बाजारू है कि पारसी नाटकों की भाषा को भी मात करती है।

'पहला: परेम भी किया तो अपनी माँ से!

दूसरा: भई अपनी-अपनी पसंद है... कोऊ खूँटा से-'

'बडी मारू है राजा, इत्ता बड़ा-बड़ा-

'मामला बड़ा गरम है प्यारे !'

'चुप बे! लोग जाइ रहे हैं! वो बैठी रथ पर, अब वो बैठा, परेमी! वाह बेटा बंशीलाल।

'अरे मौज तो वेनुरती कै रही है। अच्छा किया इसकी गदर जवानी उस बुड्ढे कृष्ण के साथ कैसे कटती ?'

'एक बात अउर, रुक्मिनी के आगे ई ससुरी के क्ले घास डालत?'

'ही अब बेटा को फाँस के लै गयी द्वारिका '''''

'अरी ससुरी नाक तो साफ कर।

'चुप रह दाढीजार के पूत।

'थोडी राग धीमी करले मेरी प्राणप्यारी, दिल की कटारी।'

'कृष्ण का पुत्र वभ्रु तो जो भाषा बोलता है उसका कोई जवाब नहीं

'ओ दुर्गपाल का बच्चा! कहाँ है वह अर्जुन? सुना है वह धोंचू यहाँ से यदुकुल की स्त्रियों को ले जाने के लिए आया है। '... कहीं है वह माँ का पट्ठा?'

'प-र-दुम्न है. ''. 'जरा वही इन सालों का बाप है।

'वाह खूब बलबलाता है, ऊँट की नाई। क्यों भाई ऊँट, मेरे दल में आ जाओ ना....मैं तुझे अपनी पत्नी का कोतवाल बना दूँगा।

'हाय मारि कटारी मर जाऊँ।

सेनापति संगीकर एक जगह कहता है

'नीच है वही कुतिया वेनुरती-विश्वासघाती है वही कुत्ता-!' या

'हाँ हाँ मैं कहूँगा- तेरी हरजाई प्रेमिका इससे प्यार करती है- इस कृष्णमुख सुअर से!' इत्यादि।

इसी राब भाषा में ' मूल्यों का विघटन' दिखाना है तो फिर पौराणिक क्लासीकी कथानक या परिवेश की जरूरत ही क्या है!

नाटकीय भाषा की दृष्टि रो सूर्यमुख कुरुचि, संदर्भभ्रष्टता, संवेदनशीलता के अभाव का बेजोड़ अजायबघर है।

18.4 रेडियो और दूरदर्शन के नाटक की समीक्षा

रेडियो ध्वनि का माध्यम है। रेडियो नाटक (जो ध्वनि नाटक होता है) में हाव-भाव, चेष्टाएँ. दृश्य एवं स्थान परिवर्तन, पात्रों की आयु तथा उनकी मनःस्थिति की जानकारी श्रोता तक ध्वनि के

माध्यम से पहुँचती है। रेडियो नाटक के प्रारम्भ में संकेत-धुन (सिग्नेचर ट्यून) अथवा शीर्ष-संगीत (टाइटल म्यूजिक) बजाया जाता है, जो नाटक के आरम्भ का सूचक होता है। दो दृश्यों के अन्तराल के सूचक के रूप में अंतरालीयक-संगीत बजाया जाता है। रेडियो लेखन में इसी के कारण अपनी शर्तें होती हैं और यह मंच के लेखन से इसी रूप में भिन्न होता है। पहला रेडियो नाटक सन् 1936 में दिल्ली में प्रसारित किया गया था। उसके बाद रेडियो ने अपने कला-रूपों का बहु त क्किास किया है। आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों से नियमित रूप से रेडियो नाटक प्रसारित किए जाते हैं। रेडियो प्रहसन अथवा झलकी की अवधी पन्द्रह मिनट की होती है। रेडियो नाटक प्राय: आधा घंटे से एक घंटे के होते हैं। रेडियो नाटक की समीक्षा उसके प्रसारण की ध्वन्यात्मक गुणवत्ता के आधार पर की जाती है जिसके अंतर्गत वाक्य विन्यास, उच्चारण, अभिनीत पात्र की कलाकार की अभिव्यक्ति तथा रचना की साहित्यिक और सामाजिक गुणवत्ता है। काल तथा स्थान परिवर्तन रेडियो नाटक में वर्णनात्मक संवादों के माध्यम से स्थापित किया जाता है।

दूरदर्शन के नाटक 'टेली प्ले' में दृश्य और स्थान परिवर्तन की जो सुविधा है, उसे दृष्टिगत रखते हु ए ही टेली-प्ले की समीक्षा की जानी चाहिए। मंच के नाटकों में जो दृश्य गगनिका (साइक्लोरामा) पर दिखाए जा सकते हैं, वे टेली-प्ले में दृश्य के माध्यम से दिखाए जाते हैं। टेली-प्ले चूँकि पहले ही रेकार्ड कर लिया जाता है, अत: उसमें आशु-अभिनय (इम्प्रोवाइजेशन) की गुंजाइश नहीं रहती, जबकि मंच के नाटकों में आशु-अभिनय की पूरी गुंजाइश होती हैं।

रेडियो और दूरदर्शन के नाटकों की समीक्षा पर मंचीय नाटक के सभी सिद्धान्त लागू होते हैं यद्यपि एक ध्वनि का तथा दूसरा दृश्य-श्रव्य माध्यम है।

18.5 मंच, रेडियो और दूरदर्शन के नाटकों में संगीत का प्रयोग

जैसा कि ऊपर वर्णित है, रेडियो, दूरदर्शन और मंच के नाटकों में पार्श्व संगीत तथा ध्वनि प्रभावों की प्रमुख भूमिका है। नाटकों में संगीत के प्रयोग से रसानुभूति में निश्चित सहायता मिलती है। साथ ही अनेक स्थानों पर संगीत का प्रयोग दृश्य की भावुकता स्थापित करने तथा उसका प्रभाव बढ़ाने में उपयोगी सिद्ध होता है। 'अत: यह उपयुक्त होगा कि यहीं स्पष्ट किया जाए कि नाट्य में कितने प्रकार से संगीत का प्रयोग किया जाता है। नाटकों में मुख्य रूप से निम्न प्रकार संगीत का प्रयोग किया जाता है

1. गीतों के साथ वाद्यवादन
2. पार्श्व संगीत, जो मंच पार्श्व अथवा रेडियो नाटक में दृश्य की पृष्ठभूमि में बजता है,
3. नेपथ्य से किसी विशेष प्रभाव के लिए घंटा, झांझ. घड़ियाल. शंख अथवा नगाडे का प्रयोग। लोक-नाट्य में विशेष
4. रूप से ख्याल और नौटंकी में नगाड़े का प्रयोग किया जाता है,
5. वे सभी गीत, गा रंगपीठ पर उपस्थित पात्रों को कोई विशेष सूचना देने अथवा विशेष प्रभाव डालने के लिए नेपथ्य से गवाए जाते हैं, ओर
6. गीत जो रंगपीठ (स्टेज) पर गाए जाते हैं, जिसमें कोरस भी सम्मिलित है।

बोध प्रश्न

1. हिन्दी नाटकों की वर्तमान स्थिति क्या है? (बीस पंक्तियों में उत्तर दीजिए)

2. नाट्य समीक्षा के प्रमुख सिद्धान्तों का अपनी भाषा में विवेचन कीजिए
3. आजादी के बाद हिन्दी में रचित नाटकों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
4. आप द्वारा पठित अथवा देखे गए किसी नाटक को दो सौ शब्दों में समीक्षा कीजिए।
5. हिन्दी में प्रकाशित रंग- पत्रिकाओं पर प्रकाश डालिए।
6. रेडियो नाटक की समीक्षा मंच नाटक से किस प्रकार भिन्न होती है? (दस पंक्तियों में उत्तर दीजिए)

18.6 सारांश

इस पाठ मे हमने देखा कि:

1. नाट्य समीक्षा के मूल सिद्धान्त क्या हैं?
2. नाट्य कला समय कला है जिसमें साहित्य संगीत, नृत्य, चित्रकला, वास्तुकला, वेशभूषा' रुपसज्जा, दृश्य परिकल्पना आदि अनेक ऐसी कलाएँ समाविष्ट है, जो स्वयं में भी स्वतन्त्र कलाएँ है। सार्थक समीक्षा लिखने के लिए तथा नाट्य-रचना और प्रदर्शन के साथ समुचित न्याय करने की दृष्टि से एक समीक्षक का इन सभी कलाओं से परिचित होना तथा उनका सम्यक ज्ञान होना अवश्यकता है।
3. नाट्य समीक्षक को रंगमंच की तकनीक और उसके विकास की जानकारी होनी चाहिए।
4. नाट्य समीक्षक को नव तथा पूर्व प्रकाशित नाटकों रंग संस्थाओं और रंगकर्मियों की जानकारी होनी चहिए।
5. आजकल लगभग प्रत्येक पत्र-पत्रिका में नाटकों तथा नाट्य प्रदर्शनों की समीक्षाएँ होती रहती हैं। आकाशवाणी तथा दूरदर्शन के विभिन्न केन्द्रों से भी नाट्य समीक्षाएँ प्रसारित की जाती है।
7. निष्पक्ष भाव से की गई संतुलित रोचक समीक्षा नाट्य समीक्षा को सार्थक बनाती है।
8. पठित, मंचित और रेडियो नाटक की समीक्षा में अंतर होता है।

18.7 शब्दावली

इस इकाई में प्रयुक्त शब्दावली इरा प्रकार है-

पार्श्व ध्वनि प्रभाव (बैकग्राउंड इफेक्ट्स)- नाटक में विशेष प्रभाव उत्पन्न करने के लिए मंच पार्श्व या रेडियो नाटक में दृश्य की पृष्ठभूमि में बजाए जाने वाले विशिष्ट ध्वनि प्रभाव।

दृश्य संयोजन (सीनिक डिजाइन) - नाटक के दृश्य की परिकल्पना के आधार पर मंच पर दृश्य उत्पन्न करना।

प्रकाश व्यवस्था (लाइट इफैक्ट्स)- दृश्य परिवर्तन के लिए तथा मंच पर प्रकाश व्यवस्था के लिए मंच को चार भागो में बांटकर उसे दृश्य के अनुकूल प्रकाशित किया जाता है। अथवा प्रकाश को धूमिल या विलुप्त किया जाता है। इसे प्रकाश व्यवस्था कहा जाता है।

संकेत- धुन (सिग्नेचर ट्यून)- रेडियो पर कार्यक्रम के प्रारम्भ में बजाई जाने वाली धुन।

गगनिका (साइक्लोरामा)- रंगपीठ (स्टेज) के पृष्ठभाग में सफेद रंग का बडा पर्दा जिस पर प्रकाश के माध्यम से दृश्य चित्रित किए जाते हैं।

वृंदगान (कोरस)- मंच पर कलाकारों द्वारा समूह में गाया जाने वाला वृंदगान।

आशु-अभिनय (इम्प्रोवाइजेशन)- कलाकार द्वारा आलेख से हटकर परिस्थितियों के मद्देनजर किया जाने वाला तुरंत अभिनय।

18.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. भरत मुनि	:	नाट्य शास्त्र
2. पंसीताराम चतुर्वेदी .	:	भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमंच
3. नेमिचन्द्र जैन	:	भारतीय नाट्य परम्परा
4. मोहन राकेश	:	आधे अधूरे
5. भीष्म साहनी	:	हानूश
6. डॉलक्ष्मीनारायण लाल .	:	डॉ सूर्यमुख
7. नाटरंग नई दिल्ली	:	अर्द्धशती विशेषांक
8. गोविंद चालक	:	रंगमंचक .ला और दृष्टि
9. नेमिचन्द्र जैन (.स)	:	आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच

18.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1. नाट्य समीक्षक की योग्यताएँ क्या होनी चाहिए?
2. पठित नाटक और मंचित नाटक की समीक्षा में क्या रूह अन्तर होता है?
3. समीक्षा का महत्त्व बताइए।
4. समीक्षक को नाटक की समीक्षा करते समय क्यों निष्पक्ष होना चाहिए?
5. समीक्षक के लिए नाट्य विधा के साथ-साथ संगीत, नृत्य, रूप-सज्जा, प्रकाश व्यवस्था आदि की जानकारी क्यों आवश्यक है?
6. समीक्षा करते समय समीक्षक को किया मुख्य बातों का ध्यान रखना चाहिए?

इकाई-19 फिल्म समीक्षा

इकाई की रूपरेखा

19.0 उद्देश्य
19.1 प्रस्तावना
19.2 सिनेमा का गंभीर अध्ययन
19.3 प्रथम सिने समीक्षक
19.4 सिनेमा संस्कृति का प्रसार
19.5 फिल्म समीक्षा: एक स्वतन्त्र विधा
19.6 श्रेष्ठ फिल्म समीक्षा के अनिवार्य तत्व
19.7 समीक्षक का महत्व
19.8 सारांश
19.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें
19.10 निबन्धात्मक प्रश्न

19.0 उद्देश्य

इस इकाई में सिनेमा के गंभीर अध्ययन को रेखांकित करते हुए फिल्म समीक्षा के लगभग हर पहलू पर विशद् चर्चा की गई है। इस इकाई के अध्ययन के बाद अपेक्षा है कि आप निम्न विषयों से पूर्णत: परिचित हो जाएँगे -

- फिल्म समीक्षा की शुरूआत और प्रथम सिने समीक्षक
- समीक्षा की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
- भारत में फिल्म समीक्षा का क्रमिक विकास
- आदर्श फिल्म समीक्षा और समीक्षक का महत्व, और
- फिल्म समीक्षा का समाजशास्त्रीय प्रभाव

19.1 प्रस्तावना

सिनेमा का प्रसार आज इतने व्यापक रूप में हो गया है कि सिनेमा आज समाज पर जितना अधिक प्रभाव छोड़ता है, उतना अन्य कोई कला माध्यम नहीं। सभी कलाओं में सिनेमा कला का सर्वाधिक विस्तार हुआ है और सभी कलाएँ अपने सूक्ष्म या स्थूल रूप में सिनेमा में अवश्यमौजूद हैं। यह सब लगभग सौ वर्ष की अवधि में ही हुआ है। अभिव्यक्ति के समस्त रूपों में अगर सिनेमा सबसे आगे है तो इसके पीछे कई ख्यातनाम और बेनाम फिल्मकारों की वर्षों की सतत. साधना तो है ही, साथ ही सिनेमाई चरित्रों में खुद को तलाशने की दर्शकों की अपनी ललक और उत्कण्ठा भी हैं।

खासकर भारत जैसे देश के सन्दर्भ में तो यह बात और भी ज्यादा सही है। भारतीय लोग सिनेमा से जितना अधिक प्रभावित होते हैं, उतना अन्य किसी कला माध्यम से नहीं। हालांकि सिनेमा का समाज से सीधा-सीधा कोई रिश्ता नहीं है, अधिकांश फिल्में सिर्फ मनोरंजन के लिए बनाई जाती हैं। लेकिन फिर भी उनमें कोई न कोई सामाजिक संदेश छिपा होता है। इतना ही नहीं, सिनेमा समाज को प्रभावित

करने के साथ-साथ खुद भी समाज से प्रभावित और संचालित होता है। पहले-पहल जब 1895 में काँपती परछाइयों का यह खेल अस्तित्व में आया था. तब न तो समाजशास्त्रियों ने और न ही इस के रचयिताओं ने यह कल्पना की होगी कि परछाइयों का यह जादू इस हद तक कामयाब होगा कि इसके बिना आधुनिक सामाजिक जीवन की कल्पना भी न की जा सकेगी।

आज दुनिया के लगभग हर देश में सिनेमा एक विकसित उद्योग का रूप ले चुका है। छोटे-बडे सभी देशों में मनोरंजन की दुनिया सिनेमा से शुरू होती है और सिनेमा पर ही विराम पाती है। मनोरंजन के अत्याधुनिक साधन यथा-टेलीविजन, वीडियो और केबल तथा उपग्रह चैनल भी आज अगर इतने लोकप्रिय हैं तो इसके पीछे भी सिनेमा के योगदान से इन्कार नहीं किया जा सकता।

19.2 सिनेमा का गंभीर अध्ययन

जैसा कि हमने ऊपर कहा, सभी प्रमुख देशों में आज सिनेमा एक विकसित उद्योग का रूप ले चुका है। प्रतिदिन कई फिल्में प्रदर्शित होती हैं और अनेक फिल्मों के ढेर में उस फिल्म का चयन कैसे किया जाए, जिसकी आपको वाकई जरूरत है- यह एक बड़ी समस्या है। अमूमन फिल्म प्रेमी अपने पसंदीदा सितारा, पसंदीदा गायिका अथवा पसंदीदा निर्देशक देखकर फिल्म का चयन करते हैं। पटकथा और गीत-संगीत का स्थान इनके बाद आता है। एक बडा दर्शक वर्ग पत्र-पत्रिकाओं में समीक्षात्मक टिप्पणी पढ़कर भी फिल्म का चयन करता है, हालांकि समीक्षा लिखने के पीछे समीक्षक का यह मकसद कदाचित नहीं होता। समीक्षक दरअसल फ्रेम-दर-फ्रेम उस जीते-जागते अहसास से रूबरू होता चलता है जो लाखों करोड़ों की जिन्दगी को गहराई तक प्रभावित करता है।

किसी भी फिल्म पर समीक्षात्मक टिप्पणी लिखने के पीछे समीक्षक का उद्देश्य सिने प्रेमियों को फिल्म के उन पहलुओं से अवगत कराना होता है जिन्हें वह एक साधारण और सतही रूप में फिल्म देखते वक्त कदाचित् अनुभव न कर पाए। समीक्षक चूँकि संवेदनात्मक स्तर पर फिल्म को अनुभव करता है, इसलिए यह संभावना तो रहती ही है कि वह फिल्म के कथ्य और अकथ्य में छिपे मर्म को समझ कर उसे दर्शकों के सामने प्रस्तुत करेगा।

19.3 प्रथम सिने समीक्षक

फिल्म समीक्षा का इतिहास भी उतना ही पुराना है, जितना फिल्मों का अपना इतिहास। हालांकि शुरुआती दौर में समीक्षाएँ फिल्म से जुडे लोगों और फिल्म की कथा-पटकथा के बारे में जानकारी भर देती थी। परछाइयों को कैमरे में कैद कर एक विशिष्ट तकनीक के जरिए उन्हें चलता-फिरता दिखाने की कला फ्रांस के लुमिएर बंधुओं (लुई और ऑगस्ट) ने खोज निकाली थी। दिसम्बर, 1895 में उन्होंने पेरिस में कुतूहल से निहारते सैकड़ों लोगों के बीच अपनी लघु फिल्मों का प्रदर्शन किया। प्रदर्शन आशातीत सफल रहा। अगले साल जून में लुमिएर बंधुओं की यह फ्लिम रूस पहुँची और वहींनोवोगार्द के मेले में इनका प्रदर्शन किया गया। प्रख्यात रूसी कथाकार मैक्सिम गोर्की तब एक स्थानीय अखबार में रिपोर्टर के तौर पर काम करते थे।. लुमिएर बंधुओं की लघु फिल्मों को उन्होंने भी देखा और अपने अखबार में इन फिल्मों पर समीक्षात्मक टिप्पणी लिखी, जिसमें उन्होंने विलक्षण, अद्भुत और असाधारण जैसे शब्दों का इस्तैमाल किया था। इस तरह हम मैक्सिम गोर्की को दुनिया का पहला फिल्म समीक्षक मान सकते हैं।

जुलाई, 1896 में लुमिएर बंधुओ का यह जादुई पिटारा हिन्दुस्तान आया और सात जुलाई से बम्बई की वॉटसन होटल में फिल्मों का प्रदर्शन होने लगा। 'टाइम्स ऑफ इण्डिया' में प्रतिदिन इन फिल्मों पर लघु समीक्षात्मक टिप्पणियाँ प्रकाशित होती थी। इन टिप्पणियों में फिल्मों को छायांकन की कला और जादुई लालटेन का गठजोड़ बताया गया था। इस तरह 'टाइम्स ऑफ इण्डिया' को फिल्म समीक्षा छापने वाला भारत का पहला समाचारपत्र होने का श्रेय दिया जा सकता है।

19.4 सिनेमा संस्कृति का प्रसार

प्रारम्भ में फिल्म समीक्षाएँ बड़ी औपचारिक और सतही हुआ करती थीं। उनमें या तो पात्रों का हवाला होता था या संक्षिप्त क्या छापकर फिल्म की जादुई. विलक्षण, असाधारण जैसे विशेषणों से सज्जित कर दिया जाता था। सिने प्रेमी भी इन्हें बहुत अधिक गम्भीरता से न लेकर जानकारी मात्र के लिए इनका उपयोग करते थे। इस स्थिति को बदलने की कोशिश पहले-पहल फ्रांस में हुई। साठ के दशक में वहाँ गंभीर फिल्म समीक्षकों की एक पीढी उभरी, जिसने सिनेमा को महज परछाइयों का खेल मानने से इनकार कर दिया और एक नई बहस की शुरुआत की। उन्होंने सिनेमा को एक ऐसे माध्यम के रूप में प्रतिष्ठापित किया जिसमें वैचारिक धरातल पर समाज को पूरी तरह बदलने की क्षमता है।

फ्रांस त्रुफो, ज्याँ लुक गोदार, क्लाड शाबरोल जॉक रिवेहा जैसे विचारकों ने उस दौर की फिल्मों पर गंभीर किस्म के लेख लिखे और सिनेमा के प्रति लोगों के प्रचलित रवैये को काफी हद तक तोड़ा। इनमें भी फ्रांस त्रुफो, की समीक्षात्मक टिप्पणियाँ काफी प्रभावपूर्ण और विचारोत्तेजक हुआ करती थी। त्रुफो ने ही उन दिनों यह बहस छड़ी कि निर्माता, निर्देशक, अभिनेता, गीतकार. संगीतकार और तकनीशियनों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण व्यक्ति कौन है? त्रुफो की बहस में वे लोग भी शामिल हुए जो फिल्म निर्माण से सम्बन्धित नहीं थे। उन्हीं दिनों यह स्थापित हुआ कि निर्देशक ही फिल्म के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण व्यक्ति है। अब तो अमेरिकी फिल्मों की फ्रांस की फिल्मों से तुलना की जाने लगी और हालीवुड की पुरानी फिल्मों की धूल झाडकर उन्हें नए सिरे से जंचा परखा जाने लगा।

हिन्दी सिनेमा के इतिहास लेखक मनमोहन चढ्ढा का कथन है कि ' फिल्म समीक्षक के रूप से फ्रांस त्रुफो का महत्व इतना बढ गया था कि अमेरिका से उसे बुलावे आने लगे। अमेरिका ने अल्फ्रेड हिचकॉक को दुनिया का श्रेष्ठतम निर्देशक साबित करने के लिए त्रुफो को अपने यहाँ बुलाया और हिचकॉक के साथ उसका एक लम्बा इन्टरव्यू कराया। ' समीक्षक की क्षमता का एहसास एक और घटना से होता है। सन् 1956 में कान के अन्तर्राष्ट्रीय फिल्म समारोह में भारत की भी एक प्रविष्टि थी, सत्यजीत राय की 'पथेर पांचाली'। निर्णायकों ने 'पथेर पांचाली' में जरा-सी भी रुचि नहीं दिखाई और ज्योंही उसका प्रदर्शन होने लगा, वे उठकर चले गए। कुछ गिने-चुने लोगों ने इसे देखा, जिसमें फ्रांस का सुप्रसिद्ध फिल्म समीक्षक आंद्रे बाजां भी था। अगले दिन के अखबारों में बांजा की जो रिपोर्ट प्रकाशित हुई, उसमें बांजा ने 'पथेर पांचाली' के लिए लिखा कि किस प्रकार जूरी इस फिल्म को अनदेखा कर एक नए निर्देशक के साथ विश्वासघात कर रही है। बाजां की टिप्पणी का असर हुआ। फिर से शो हुआ और निर्णायकों ने 'पथेर पांचाली' को देखा। जब पुरस्कारों की घोषणा हुई तो ' पथेर पांचाली' को 'सर्वोत्तम मानवीय दस्तावेज' का सम्मान देने का एलान किया गया।

19.5 फिल्म समीक्षा : एक स्वतन्त्र विधा

इधर, भारत के पत्र- पत्रिकाओं में भी फिल्म समीक्षा को निरन्तर स्थान दिया जा रहा था। ख्वाजा अहमद अब्बास ने अपने कैरियर की शुरुआत फिल्म समीक्षक के रूप में ही की। सन् 1935 में वे 'बम्बई क्रानिकल' से जुडे और कई सालों तक फिल्मों पर समीक्षात्मक टिप्पणियाँ लिखते रहे। उन दिनों ज्यादा अखबार फिल्म समीक्षाएँ छापते अवश्य थे, मगर गंभीर और विचारपरक समीक्षा छापने में उनकी रुचि नहीं थी। अधिकांश अखबार फिल्म प्रदर्शकों द्वारा भेजी गई समीक्षा को ज्यों का त्यों छाप देते थे। सिर्फ 'स्टेटमैन' ऐसा पत्र था जो प्रदर्शकों द्वारा भेजी गई समीक्षा में फेरबदल किया करता था। यह सिलसिला चलता रहा और बाद में नेत्रसिंह रावत ने फिल्म समीक्षा को पूरी गम्भीरता और बौद्धिकता के साथ लिया और एक स्वतन्त्र विधा के रूप में उसका विकास करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। 'दिनमान' में छपी नेत्रसिंह रावत की फिल्म समीक्षाओं की उन दिनों काफी चर्चा हुआ करती थी। उन्हीं के साथ-साथ कुंवर नारायण, रधुवीर सहाय, विष्णु खरे, विनोद भारद्वाज, ब्रजेश्वर मदान जैसे लेखकों ने भी फिल्म समीक्षा को एक प्रतिष्ठित स्थान दिलाया।

'दिनमान' से पूर्व हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं में सिनेमा को गंभीरता पूर्वक स्थान नहीं दिया जाता था। पाठकों के आकर्षण के लिए कुछ लुभावने और तडक-भड़क वाले चित्र छापे जाते थे तथा साथ मे कोई छोटा-मोटा आलेख जो चुटीले विवरणों से भरा होता था। फिल्म के विवरण में भी ग्लैमर ओर उत्तेजना पैदा करने वाली सूचनाएँ होती थीं। मगर 1965 में 'दिनमान' का प्रकाशन शुरु होने के बाद यह क्रम टूटा आर सिनेमा पर गम्भीर लेखन की शुरूआत हुई। हिन्दी और दूसरी भारतीय भाषाओं में बनने वाली फिल्मों में रचनात्मकता के स्तर की जाँच-पड़ताल 'दिनमान' ने की और इस तरह सिनेमा चिन्तन के प्रति एक खास दृष्टिकोण विकसित किया। समीक्षा के बहाने समालोचकों ने हिन्दी सिनेमा की परम्परा को तलाश किया और सिनेमा के सामाजिक सरोकारों को चिंहित किया। सिनेमा की उपादेयता और उसके समाज पर पड़ने वाले प्रभावों को लेकर एक सार्थक बहस की शुरुआत हुई, जिसे 'दिनमान' के बाद 'धर्मयुग', 'समयांतर', 'सारिका', 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' और 'टाइम्स ऑफ इण्डिया' जैसे प्रकाशनों में आगे बढ़ाया। इन पत्र-पत्रिकाओं ने सिनेमा की व्यावसायिक मजबूरी को पहचानते हुए उन स्थितियों का चित्रण भी किया. जिनके कारण सिनेमा ने अपनी गौरवशाली परम्परा छोडते हुए विशुद्ध व्यवासायिक रवैया अपनाया।

उस दौर के पत्र-पत्रिकाओं में छपी फिल्म समीक्षाओं के माध्यम से हमें सिनेमा के प्रति दर्शकों की उत्सुकता और उत्कण्ठा को समझने में भी मदद मिलती है। हम देखते हैं कि शुरूआत से ही भारत में सिनेमा के समक्ष अनेक बाधाएँ रही, कई चुनौतियों का सामना उसे करना पड़ा। हमारे यहीं अच्छी और बुरी फिल्मों में भेद करने और अच्छी फिल्म को पहचानने का कोई तंत्र विकसित नहीं हो पाया है। इसका मुख्य कारण यह है कि हमारे यहीं पाश्चात्य देशों की तरह दर्शकों को फिल्म देखने-समझने की कोई ट्रेनिंग नहीं दी गई है। बच्चों से भी स्कूली स्तर पर सिनेमा के सम्बन्ध में मौलिक समझ विकसित करने का प्रयास नहीं किया जाता। इसलिए हिन्दी और अंग्रेजी के प्रकाशनों ने दर्शकों में सिनेमा के गम्भीर अध्ययन की समझ विकसित करने का बीड़ा उठाया। जिन दिनों 'शोले' जैसी हिंसक फिल्म चारों तरफ धूम मचा रही थी, 'टाइम्स ऑफ इण्डिया' ने इस फिल्म में चित्रित अतिरंजित हिंसा में छिपे खतरों की तरफ सबका ध्यान आकर्षित किया। टाइम्स ऑफ इण्डिया ने लिखा कि कल तक उपेक्षित

खलनायक अब (शोले के बाद) आगे निकल गया है और इस तरह हिंसा और खून खराबे को सामाजिक मान्यता मिल गई है। फिल्म का खलनायक बड़ी बेरहमी से इंस्पैक्टर के हाथ काट. देता है और ठहाका लगाता है। इसके अलावा एक अन्य प्रसंग में खलनायक एलान करता है 'तीनों हरामजादे मारे गए.....। फिर लम्बा ठहाका, जिसकी प्रतिध्वनि दर्शक भी अपने भीतर अनुभव करते हैं। यह पूरा दृश्य सामाजिक मान्यता भी प्राप्त कर लेता है, जो व्यापक खतरे की तरफ इंगित करता है।....

इस तरह विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में छपे समीक्षात्मक आलेखों के माध्यम से हम इस सच से रु-ब-रु होते हैं कि व्यावसायिक सिनेमा की परम्परा भी बुरी तरह क्षतिग्रस्त हुई है। तीस वर्ष पहले के दौर में 'ले के पहला-पहला प्यार, करके आँखों में सिंगार, जादूनगरी से आया है कोई जादूगर' गीत को भी बाजारू समझा जाता था मगर आज 'चोली के पीछे क्या है' - यह सवाल बच्चे-बच्चे की जुबान पर है। इन शब्दों से भी फ़िल्मकर को संतोष नहीं होता और वह गीत के शब्दों को फिल्माने में अपनी ऊर्जा व्यर्थ कर देता है। यह व्यावसायिकता है जो धीरे-धीरे सिनेमा में घुस आई है और अब इसने यहाँ अपना स्थाई आवास बना लिया है।

इस व्यावसायिकता का एक पहलू और भी है। सिनेमा केवल समाज को प्रभावित ही नहीं करता, बल्कि उससे प्रभावित भी होता है। पिछले चालीस-पचास वर्षों से बनती चली आ रही फिल्मों को अगर हम क्रमिक ढंग से देखें तो यह बात स्पष्ट हो जाएगी। पहले जब गाँव फिल्मों में केन्द्र में हुआ करता था, तो उस समय जमींदार फिल्मों में खलनायक हुआ करते थे। बाद में यह स्थान स्मगलरों ने ले लिया और आज जबकि राजनीति जीवन के हर क्षेत्र पर हावी है तो राजनेता हमारे फिल्मकारों के पसंदीदा खलनायक हैं।

इसी तरह समाज में नारी चेतना को लेकर जो बदलाव आया है, उसे भी हम फिल्मों में देख सकते हैं। स्वतंत्रता के उपरांत भारतीय नारी का समाज में कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं था, इसलिए उस दौर में बनने वाली नारी प्रधान फिल्मों का शीर्षक होता था- 'मैं चुप रहूँगी'। आज की फिल्मों का शीर्षक है 'जख्मी औरत'। कहने का तात्पर्य यह है कि समाज में समय-समय पर जो बदलाव आते रहे. सिनेमा उन्हें प्रतिबिम्बित करता रहा और पत्र-पत्रिकाओं के समीक्षा स्तम्भों के माध्यम से दर्शक उन्हें पहचानते रहे। फिल्म समीक्षा का स्तम्भ आजकल लगभग हर समाचार-पत्र और पत्रिका में नियमित रूप से प्रकाशित किया जाता है। फिल्म पत्रिकाओं का तो यह विशिष्ट आकर्षण है ही, दूसरी तमाम पत्रिकाएँ भी नई प्रदर्शित फिल्मों की समीक्षा को बराबर स्थान देती हैं।

'पटकथा' जैसी पत्रिकाओं ने फिल्म समीक्षा को शास्त्रीय सौन्दर्य प्रदान किया है। सरकारी तौर पर फिल्म समीक्षा को मान्यता मिलने का काम बहुत बाद में हुआ सन् 1949 में सरकार ने पाटिल फिल्म निरीक्षक कमेटी बनाई थी। जिसने 1951 में अपनी रिपोर्ट दी। पाटिल कमेटी ने सुझाव दिया था कि सर्वोत्तम फिल्म समीक्षा. सर्वोत्तम अभिनय श्रेष्ठ तकनीकी प्रयासों, सर्वोत्तम फिल्म समीक्षा, फिल्म स्तर पर सर्वोच्च पुस्तक और सर्वोत्तम फिल्म कथा आदि को वार्षिक पुरस्कारों से सम्मानित किया जाए। दो वर्ष बाद 1953 से सरकार ने फिल्म कर्मियों और फिल्मों के लिए राष्ट्रीय पुरस्कार प्रारम्भ कर दिए, परन्तु सर्वोत्तम फिल्म समीक्षा अथवा फिल्म पत्रकारिता का फिल्म विधा पर सर्वोत्तम पुस्तक को पुरस्कृत करने काम 1981 से किया।

19.6 श्रेष्ठ फिल्म समीक्षा के अनिवार्य तत्व

अब सवाल उठता है कि एक श्रेष्ठ फिल्म समीक्षा किसे माना जा सकता है? इस बारे में समीक्षकों की राय अलग- अलग हो सकती है, परन्तु एक बात पर कदाचित सब सहमत होंगे कि एक श्रेष्ठ फिल्म समीक्षा वही है, जो सिने दर्शकों की जिज्ञासा शांत भी करे और जिज्ञासाओं को बढावा भी दे। फिल्म समीक्षक के लिए यह तो आवश्यक है ही कि उसे फिल्म विधा का ज्ञान हो। फिल्म निर्माण से जुड़े प्रत्येक पहलू की उसे जानकारी होनी चाहिए और थोडी बहुत तकनीकी समझ का होना भी जरूरी है। मूवी कैमरे की बारीकियों से भले ही वह अवगत न हो मगर क्लोज अप, मिड शॉट, लीग शाट, जूम, ट्रॉली, फेड आउट, फेड इन, पॉज, सुपर इम्पोज जैसे तकनीकी पहलुओं से भली-भॉति अवगत हो। तभी उसके द्वारा लिखी गई समीक्षा एक परिपूर्ण फिल्म समीक्षा मानी जा सकती है।

तकनीकी पहलुओं की जानकारी के साथ-साथ यदि उसके पास पर्याप्त सन्दर्भ सामग्री है तो वह अधिक बेबाकी से समीक्षा लिख सकता है। अपनी सन्दर्भ सामग्री की सहायता से वह समीक्षा में लिख सकता हे कि फिल्मकार ने अमुक दृश्य अमुक फिल्म से उड़ाया है, या फिल्म की कहानी अथवा उसका कोई अंश और अमुक फिल्म की नकल है। साथ ही, वह कलाकारों के अभिनय का भी तुलनात्मक आकलन कर सकता है। समीक्षक के लिए यह भी आवश्यक हे कि वह अपनी समीक्षा मे फिल्म के सभी महत्वपूर्ण पहलुओं का उल्लेख करे। कई समीक्षक कथा-पटकथा और पात्रों के अभिनय की चर्चा भर करते हैं। जबकि सेने प्रेमी यह भी जानना चाहते हैं कि फिल्म का गीत-संगीत पक्ष कितना प्रबल है, फिल्म की फोटोग्राफी कैसी है, फिल्म उद्देश्यपरक है या नहीं और वह अपने उद्देश्य में कहाँ तक सफल हुई आदि। जहाँ आवश्यक हो, वही समीक्षक को पात्रों की वेषभूषा और दृश्यों की पृष्ठभूमि पर भी ध्यान देना चाहिए। उदाहरणार्थ ऐतिहासिक और पौराणिक विषयों पर बनने वाली फिल्मों में पात्रों को वेशभूषा और दृश्यों की पृष्ठभूमि समयानुकूल होनी चाहिए।

एक चतुर समीक्षक इनके चयन में की गई भूल को पकड़ सकता है। फिल्म समीक्षक पर एक अतिरिक्त मानसिक दबाव यह भी रहता है कि उसे सिने दर्शकों की भावनाओं का भी ख्याल रखना होता है। फिल्म अभिनेताओं और अभिनेत्रियों के प्रशंसक उन्हें दीवानगी की हद तक चाहते हैं और वे अपने प्रिय कलाकार के विरुद्ध कुछ सुनना-पढना नहीं चाहते। मगर समीक्षक का दायित्व यहाँ और बढ जाता है। यह निष्पक्ष होकर समीक्षा करे और इस बात से जरा भी प्रभावित न हो कि कौन कलाकार कितना लोकप्रिय है, और कौन नहीं। सभी कलाकार समीक्षक की नजर में समान हैं। साथ ही, उसे यह भी भूला देना चाहिए कि समसामयिक दौर में सिने बाजार में किस तरह की फिल्मों का प्रचलन हे। फिल्म में वह लोकप्रियता के तत्व तलाशने की बजाए यह तलाश करे कि फिल्म का कोई उद्देश्य है अथवा नहीं और वह अपने उद्देश्य में कहाँ तक सफल हुई है। हिंसा. मारधाड, क्रूरता और जीवन मूल्यों से नफरत करना सिखाने वाली फिल्मों को हतोत्साहित करना चाहिए। व्यवस्था विरोध के नाम पर तमाम तरह की हिंसा दर्शाने वाले फिल्मकारों का कटघरे मे समीक्षक ही खडा कर सकता है। निरर्थक और उल-जलूल फिल्में बनाने वाले फिल्मकारों से जवाब-तलब समीक्षक ही कर सकता है।

पर यह तभी संभव हो पाता है जब समीक्षक स्वयं पूर्वग्रह से मुक्त रहे। फिल्म समीक्षक के अपने पूर्वग्रह उसके लेखन पर प्रभाव डाल सकते हैं और ऐसे में वह किस के साथ न्याय नही कर पाएगा। उसे अपनी समीक्षा में विलक्षण अभिनय, महानतम कलाकार. चकित कर देने वाला अभिनय अद्भुत,

अति सुन्दर जैसे विशेषणों से बचना चाहिए और कलाकार को उसकी स्थिति के अनुकूल विशेषणों से ही मंडित करना चाहिए। फिल्म समीक्षा का शीर्षक भी उपयुक्त और प्रभावी होना चाहिए। जहाँ तक संभव हो, शीर्षक में ही फिल्म का नाम शामिल कर लिया जाना चाहिए ताकि पाठक सीधे ही आकर्षित हो जाए। उदाहरणार्थ, नारीवाद को फिल्मी अंदाज में बढावा देने वाली फिल्म " मिर्च मसाला' की 'पटकथा' में छपी समीक्षा का शीर्षक यह दिया गया- अब प्रस्तुत है नारीवाद पर मिर्च मसाला। इससे पाठक तुरन्त समझ जाता है कि नारीवाद पर एक सतही फिल्म है मिर्च' मसाला।

समीक्षा की शुरुआत में समीक्षक को उन तमाम उद्देश्यों का जिक्र कर लेना चाहिए जिन्हें लेकर फिल्म बनाई गई है। साथ ही यह भी कि फिल्म अपना प्रभाव छोडने में कहाँ तक सफल हुई है। उदाहरण के लिए फिल्म पत्रिका माधुरी में छपी कि 'दहलीज' की समीक्षा की शुरआत कुछ इस तरह की गई- 'अपनी कतिपय कमजोरियों के बावजूद बी. आर. फिल्म और निर्देशक रवि चोपडा की दहलीज आतंकवाद के खिलाफ आवाज उठाने वाली समसामयिक फिल्म होने के कारण समर्थन की हकदार है। ' कलाकारों के अभिनय का जिक्र करते समय उनके चरित्र से साम्य का उल्लेख भी किया जाना चाहिए, जैसे-.. ' राज बब्बर ने कर्नल के पात्र को गरिमा प्रदान करने को पूरी कोशिश की। मृगनयनी का चरित्र इतना उलझा हुआ है कि उसे साकार करने लिए भावप्रवण अभिनेत्री की जरूरत थी। यह जरूरत मीनाक्षी शेषाद्रि पूरी नहीं कर पाई। मीनाक्षी ने एक सीमा तक इसके साथ न्याय किया है। (दहलीज)

समीक्षक को एक लोकप्रिय फिल्म और एक अच्छी फिल्म के बीच की दूरी को समझना चाहिए। सिने इतिहास में नया अध्याय लिखने वाली फिल्म ' शोले' एक बेहद लोकप्रिय फिल्म कही जा सकती है। मगर उसमें हिंसा का अतिरेक देखते हुए उसे अच्छी फिल्मों की श्रेणी में कदापि नहीं रखा जा सकता। इसी तरह जंजीर ने एक नए सुपर स्टार को जन्म दिया मगर इस फिल्म में कहानी का प्रवाह और उसके ट्रीटमेंट को देखते हुए इसे भी अच्छी फिल्म नहीं माना गया। राजकपूर की ' राम तेरी गंगा मैली' ने भले ही सफलता के कीर्तिमान कायम किए, मगर है यह भी एक औसत फिल्म ही।

समीक्षक के लिए आवश्यक हे कि वह कलाकारों और निर्देशकों के चमत्कारिक व्यक्तित्व से प्रभावित हुए बिना बेबाक समीक्षा लिखे। उसे फिल्म बाजार के ट्रेण्ड पर भी नजर रखनी है। उसे बराबर यह देखते रहना चाहिए कि किस किस्म की फिल्में हिट हो रही हैं और क्यों? कौन कलाकार पसंद किया जा रहा है ओर कौन असफल हो रहा है? मौजूदा दौर का दर्शक वर्ग क्या देखना पसंद कर रहा है और क्यों ? इन सब पर नजर रखते हुए समीक्षक फिल्मों के जरिए उत्पन्न होने वाले खतरों से समाज को आगाह कर सकता है।

19.7 समीक्षक का महत्व

फिल्म समीक्षक चूँकि सिने प्रेमियों की पसंदगी और नापसंदगी को प्रभावित करता है। इसलिए यह जरूरी हो जाता है कि वह अपनी समीक्षात्मक टिप्पणियों के जरिए सार्थक सिनेमा को बढावा दे। सार्थक सिनेमा को परिभाषित करना थोड़ा मुश्किल है। मगर मोटे तौर पर इसका अर्थ हम उन फिल्मों से लगा सकते हैं, जिनमें रंग-बिरंगे कल्पना लोक की बजाय जिन्दगी रो जुड़े फिल्मकारों की अपनी एक प्रतिबद्ध विचारधारा होती है और अपनी फिल्मों के जरिए वे इस विचारधारा को ही आगे बढाते हैं। समीक्षक इस काम में उनका मददगार साबित हो सकता है। आपकी सुविधा के लिए यहाँ तीन ऐसी

फिल्मों की समीक्षा दी जा रही है, जो लीक से हटकर बनाई गई फिल्में हैं जिनके जरिए फिल्मकार ने समस्याओं और उनके हल को अपने ढंग से परिभाषित किया है।

19.7.1 फिल्म समीक्षा: एक

दर्मियाँ

निर्देशक कल्पना लाजमी की फिल्म 'दीर्मयाँ', समाज के एक ऐसे वर्ग की कहानी बयान करती है, जिसे आम बोलचाल की भाषा में हिजडा कहा जाता है। स्त्री और पुरुष से अलहदा इस तीसरी दुनिया के अंदरूनी दुख-दर्द और तकलीफ़ों को निर्देशक ने ईमानदारी के साथ परदे पर उतारा है। हालांकि फिल्म मे दो समानान्तर कहानियाँ साथ-साथ चलती हैं, मगर पटकथा के केन्द्र में तीसरी दुनिया का वह शापित समाज ही है। दरअसल दर्मियॉ महेश भट्ट की तमन्ना से शुरु हुए सिलसिले को ही आगे बढाती है। फर्क इतना है कि तमन्ना एक सच्ची घटना पर आधारित है। दर्मियॉ में भी कल्पना लाजमी ने कुछेक प्रसंग वास्तविक घटनाओं से उठाए हैं। मगर ज्यादातर फिल्म एक काल्पनिक पटकथा के सहारे आगे बढती है।

फिल्म में एक तरफ जीनत (किरण खेर) की कहानी है और दूसरी तरफ है जीनत के बेटे इम्मी (आरिफ जकारिया) की व्यथा। जीनत एक मशहूर अभिनेत्री है, जिसने लम्बे समय तक शोहरत और कामयाबी को जीया है। ढलती उम्र के साथ फिल्म बाजार में जीनत की मांग कम हो जाती है और उसके स्थान पर चित्रा (तब्बू) नंबर वन अभिनेत्री बन जाती है। जीनत को एक तरफ कामयाबी और शोहरत छिनने का गम है, दूसरी तरफ उसके बेटे इम्मी का गम भी है, जो जन्मजात हिजडा है। इम्मी बचपन से ही नामर्दी का अभिशाप झेलता है और उसकी जिंदगी में एक ऐसा मोड भी आता है जब वह न चाहते हुए भी हिजडो की जमात में शामिल हो जाता है। तीसरी दुनिया की अंदरूनी सच्चाई देखकर इम्मी को इस जमात से भी नफरत हो जाती है और वह इस अभिशाप से मुक्त होने के लिए अंततः विष का सेवन कर खुद की और अपनी माँ की जीवन-लीला समाप्त कर देता है।

फिल्म के पहले भाग मे जीनत की कथा चलती है। किरण खेर ने इस भूमिका को बेहद कुशलता से परदे पर जीवंत कर दिया है। वे साठ के दशक की एक ऐसी अभिनेत्री बनी हैं जो शोहरत के मद में इतनी मगन है कि उसे यह अहसास भी नहीं हो पाता कि कब वक्त बदल गया और जमाना उसे पीछे छोड कर काफी आगे निकल गया है। सामाजिक मर्यादाओं के कारण जीनत अपने बेटे इम्मी को कभी बेटा नही कह पाती और सब जगह इम्मी का परिचय जीनत के भाई के रूप में ही कराया जाता हे। बेटे को बेटा न कह पाने की बेबसी और छटपटाहट को उन्होंने मार्मिकता से परदे पर उतारा है।

दर्मियॉ में सबसे मुश्किल भूमिका है इम्मी की। आरिफ जकारिया की यह पहली फिल्म है मगर उन्होंने किसी मजे हुए कलाकार की तरह अभिनय किया हैं। पहले यह भूमिका शाहरूख खान करने वाले थे। अब आरिफ को इस रोल में देखकर यह अहसास नहीं हुआ कि शाहरूख इसे और बेहतर तरीके से निभा सकते थे। पहली ही फिल्म में ऑफ-बीट किस्म की भूमिका निभाने का खतरा बहुत कम कलाकार उठाते हे। आरिफ ने यह खतरा उठाया हे और इसका लाभ उन्हे अवश्य मिलेगा। मराठी रंगमंच के युवा कलाकार सयाजी शिंदे यही हिजडों की एक टोली की मुखिया चंपाबाई की भूमिका में हैं। शिंदे इससे पहले कुछेक नाटकों में भी इसी तरह के रोल निभा चुके हैं। यही कारण है कि चंपाबाई के किरदार में वे बेहद स्वाभाविक नजर आते हैं। इम्मी को अपनी टोली में शामिल करने की जद्वोजहद ओर इसमें

नाकाम रहने पर कूडे के ढेर में मिले बच्चे को ही ले उडने के प्रसंगों गे शिंदे ने स्वाभाविक अभिनय किया है।

तब्बू और शाहबाज खान को भूमिका छोटी हैं मगर फिल्म के प्रवाह मे उनका बराबर योगदान हे। दोनों न संयत तरीके से अपने किरदार निभाए हैं। फिल्म पचास और साठ के दशक की कहानी कहती हे। इस लिहाज से निर्देशक ने उस दौर के परिवेश की जीवंत करने का पूरा प्रयास किया है। फिल्म का लगभग हर कलाकार अपनी जगह दुरुस्त है। अगर निराश करते है तो सिर्फ जावेद अख्तर और भूपेन हजारिका। भूपेन दा ने कल्पना लाजमी की पिछली स्थाली मे बेहद उम्दा संगीत दिया था मगर दर्मियॉ में वे अपनी धुनों का सुरीलापन नहीं रख सके हैं। यही बात जावेद अख्तर की शायरी के बारे में कही जा सकती है।

संतोष सिवन की फोटोग्राफी आकर्षक है। फिल्म का संपादन सुस्त है ओर बीच-बीच में फिल्म बोझिल हो जाती है। इसके बावजूद यह फिल्म देखना एक ऐसा अनुभव है. जिसे आसानी न भुला पाना मुमकिन नहीं है

19.7.2 फिल्म समीक्षा: दो

सात रंग के सपने

निर्देशक प्रियदर्शन की फिल्में कुछ अलहदा किस्म की खुशबू बिखेरती हैं। अपनी माटी की खुशबू में रची-बसी उनकी फिल्में ऐसे तमाम लोगों को पसंद आती हैं जो हमेशा उम्दा सिनेमा के लिए फिक्रमंद रहते हैं। प्रियदर्शन की नई फिल्म 'सात रंग के सपने' भी एक ऐसी ही खूबसूरत फिल्म है। इसमें अंगड़ाइयॉ लेते यौवन के कुछ चटकीले सपने तो हैं ही, कुछ उम्मदराज लोगों की कोरी आंखो के मासूम ख्वाब भी हैं। आज के दौर में सुनील शेट्टी और मिथुन चक्रवर्ती जैसे नायकों की ढिशुम-ढिशुम मार्का फिल्में झेलने वाले दर्शकों को 'सात रंग के सपने' शायद बहुत अधिक नहीं लुभा पाएँगे मगर इससे प्रियदर्शन का सिनेमाई जादू जरा भी हल्का नहीं होता।

प्रियदर्शन की पिछली फिल्म ' विरासत' की तरह यहाँ भी एक प्यारा-सा गाँव है और गाँव के भोले-भाले वाशिंदे हैं। इन्हीं में एक है फिल्म का नायक महीपाल यानी अरविंद स्वामी। गाँव में एक समृद्ध परिवार है, जिसका मुखिया है भानुप्रताप, अपने अनुमन खेर। महीपाल यूँ तो भानुप्रताप के यहाँ नौकर है मगर दोनों का रिश्ता भाइयों जैसा ही है। भानु की एक बहन भी है, फरीदा जलाल। इन्हें इनके ससुराल वालों ने पति की मौत के बाद घर से निकाल दिया है और इनकी फिक्र में भानु ने अधेड अवस्था में पहुँचने पर भी कभी अपनी शादी के बारे में सोचा तक नही। महीपाल और भानु आराम से जिन्दगी काट रहे थे कि एक दिन उनकी मुलाकात नौटंकी वाली बाई जालिमा (जूही चावला) से होती है। ' चलते-चलते, यूँ ही कोई मिल गया था' वाले अंदाज में हुई यह मुलाकात महीपाल और भानु के शांत जीवन में तूफान ले आती है। कभी शादी न करने की बात ठान चुका भानुप्रताप अपने इरादे से डिग जाता है और जालिमा से ब्याह करने के ख्वाब देखने लगता है। मगर जालिमा महीपाल को दिल दे बैठती है। हालात कुछ ऐसे मोड़ लेते हैं कि भानु महीपाल को अपना दुश्मन समझने लगता है। जालिमा के दिल में अपनी जगह बनाने के लिए भानु काफी कोशिशें करता है। मगर आखिर में वह अपनी हार मान लेता है।

'मुस्कराहट' की तरह यहीं भी प्रियदर्शन ने फिल्म में कॉमेडी पर खासा ध्यान दिया है। पूरी फिल्म में हास्य के कई छोटे-मोटे प्रसंग हैं, जो दर्शकों को बराबर गुदगुदाते रहते हैं। हल्के-फुल्के कथानक को लेकर भी प्रियदर्शन ने एक प्रभावी और मनोरंजक फिल्म बनाई है। फिल्म में कई ऐसे प्रसंग हैं जो हँसाते हैं, गुदगुदाते हैं और मन को भिंगोते हैं। सुनसान, बियावान में बैलगाड़ी में सवार नायक-नायिका और उनके बीच भानुप्रताप के मन में प्रेम के बीजों का अंकुरण - इस पूरे प्रसंग को प्रियदर्शन ने पूरी तबीयत से फिल्माया है। फिल्म की अधिकांश शूटिंग जैसलमेर के किसी गाँव में की गई है। रेगिस्तान के दृश्य आँखों को सुकून पहुँचाते हैं।

यूँ तो फिल्म के नायक अरविंद स्वामी हैं मगर अनुपम खेर सबसे बाजी मार कर ले गए हैं। उनके काम के बारे में दो शब्दों में टिप्पणी करने को कहा जाए तो यही कहा जाएगा- 'भाई वाह! पूरी फिल्म में वे बेहद सहज नजर आते हैं और अपने किरदार को तबियत से निभा ले जाते हैं। ' पहले एक मस्तमौला अधेड और फिर दिल से जवान, शादी के ख्वाब संजोता छैल-छबीला- दोनों चरित्रों में अनुपम अपनी मस्ती से दर्शकों को गुदगुदाते हैं। अरविंद स्वामी का चरित्र पूरी तरह विस्तार नहीं पा सका है फिर भी जितना मौका उन्हें मिलता है, उसमें उन्होंने कोई कसर बाकी नहीं रखी है। अपने किरदार के साथ उन्होंने पूरा इंसाफ किया है। जूही चावला का अभिनय भी निखार पर है। खास बात यह भी है कि 'सात रंग के सपने' में नायिका महज एक शो पीस नहीं है। नायिका ही क्यों, फिल्म में और भी जितने नारी चरित्र हैं- हरेक का कहानी में एक अहम स्थान है. कोई भी सिर्फ दिखावे के लिए नहीं है। जूही चावला का चरित्र कहानी के केन्द्र में है और उन्होंने कहीं भी अपने अभिनय को कमजोर नहीं पडने दिया है। हाल के दिनों में जूही का कैरियर ग्राफ तेजी से ऊपर की तरफ जा रहा है। 'दीवाना मस्ताना' ओर ' इश्क' की कामयाबी के बाद 'सात रंग के सपने का भी जूही के कैरियर में एक यादगार फिल्म के तौर पर जिक्र होगा।

फिल्म का गीत और संगीत का पक्ष अलबत्ता कुछ कमजोर है। 'विरासत' जैसे कर्णप्रिय गीत प्रियदर्शन की इस फिल्म में नहीं है। हालांकि शीर्षक गीत कुछ समय तक गुनगुनाने लायक है। नदीम-श्रवण की जोड़ी ने अपनी धुनों पर कोई खास मेहनत नहीं की है और समीर ने भी चलताऊ गाने ही लिखे हैं। लगता है प्रियदर्शन 'विरासत' के हेंगओवर से पूरी तरह उमर नहीं पाए हैं। फिल्म का क्लाइमैक्स कुछ-कुछ 'विरासत' से मिलता-जुलता है। क्लाइमैक्स को हिंसा से भरपूर बनाने की गुंजाइश कई, मगर प्रियदर्शन चतुराई से हिंसा का टाल गए हैं। फिल्म के कुछ सेट्स भी 'विरासत' की याद ताजा कराते हैं।

19.7.3 फिल्म समीक्षा: तीन

टाइटेनिक

हॉलीवुड में डिजास्टर फिल्मों की एक पुरानी परम्परा रही है। भीषण और दुखद मानवीय त्रासदी को सिनेमा के परदे पर उतारना हॉलीवुड के फिल्मकारों का प्रिय शौक रहा है। लगातार होने वाले हादसों को व्यावसायिक तरीके से भुनाने में हॉलीवुड के फिल्म निर्माता कभी पीछे नहीं रहते, हालांकि व्यावसायिकता की इस होड़ में वे हादसों के मानवीय पहलुओं को कभी नजरअंदाज नहीं करते। जेम्स कैमेरॉन की बेहद चर्चित फिल्म टाइटेनिक इसी श्रृंखला की एक और कड़ी है। दुनिया भर में धूम मचाने और ग्यारह ऑस्कर पुरस्कार जीतने वाली फिल्म टाइटेनिक छियासी साल पहले के एक भयावह हादसे

को एक विचित्र किस्म के अनुभव के साथ पेश करती है। अत्याधुनिक डिजीटल तकनीक और कम्प्यूटर ग्राफिक्स की बदौलत टाइटेनिक एक यादगार फिल्म बन पड़ी है। हालांकि फिल्म पूरे सवा तीन घण्टे की अवधि की है। मगर यह असाधारण लम्बाई फिल्म के असर को कहीं भी हल्का नहीं पड़ने देती।

टर्मिनेटर-टू जैसी धांसू एक्शन फिल्म बनाने वाले जैम्स कैमेरॉन ने ऐतिहासिक टाइटेनिक हादसे को एक अमीर लड़की और एक गरीब चित्रकार की उन्मुक्त प्रेम कथा के सहारे एक भव्य और जोशीला रूप प्रदान किया है। कहीं-कहीं यह रोमांचित कर देने वाली प्रेमकथा मूल हादसे को भी पृष्ठभूमि में धकेल देती है और दर्शक दो धडकते जवॉ दिलों से निकले प्रेम के पवित्र संगीत में ही खो जाते हैं। चौदह-पन्द्रह अप्रेल- 1912 की रात हुआ वह हादसा अब एक इतिहास बन चुका है. जब टाइटेनिक नाम का एक विशाल जहाज एक बड़े आइसबर्ग से टकरा कर समुद्र की गहराइयों में समा गया था। सवा दो हजार लोग उस वक्त जहाज पर सवार थे, जिनमें से पन्द्रह सौ लोगों ने जल समाधि ले ली थी।

जहाज पर दो दुनियाएँ मौजूद है - एक वैभव और अय्याशी की चमक में डूबी अमीरों की दुनिया और दूसरी मध्यमवर्गीय सपनों के तले दबी निर्धनों की दुनिया। अमीरों की दुनिया में रोज(केट विलसेन्ट) नाम की एक लड़की है, जिसे बनावटी जिन्दगी से सख्त नफरत है। जहाज पर वह अपने मंगेतर कैल होकली (विली जेन) और माँ रूथ (फ्रांसिस फिशर) के साथ मौजूद है। घुटन भरी जिन्दगी से ऊब चुकी रोज एक दिन खुदकुशी के इरादे से टाइटेनिक के डेक पर जा पहुँचती है, जहां एक फक्कड़ मगर मस्तमौला चित्रकार जैक डॉसन (लियोनार्दो दीकाप्रियो) न सिर्फ उसे खुदकुशी करने से रोकता है बल्कि उसे सतरंगी सपनों की दुनिया में ले जाता है। जैक के जीवन में बिलकुल बनावटीपन नहीं है। उसमें भरपूर मासूमियत है, आत्मीयता है। जैक से मिलकर रोज को जिन्दगी में पहली बार जीवन की सच्ची खुशबू का अहसास होता है। धीरे- धीरे दोनों नजदीक आ जाते हैं और अपने मंगेतर कैल की तमाम कोशिशों के बावजूद रोज खुद को पूरी तरह जैक के हवाले कर देती है। ठीक उसी पल टाइटेनिक आइसबर्ग से टकराता है और पूरे जहाज में अफरा-तफरी मच जाती है। रोज के बचाने के प्रयास में जैक ठण्डे, समुद्री पानी में शिलाखण्ड में तब्दील हो जाता है मगर रोज को बचाने में वह कामयाब रहता है। तब तक जहाज के दो टुकड़े हो जाते हैं और कई अभागे मुसाफिरों के साथ टाइटेनिक जल समाधि ले लेता है।

हादसे के छियासी साल बाद जहाज के साथ डूबे एक बेहद कीमती हीरे की तलाश में कुछ लोग समुद्र की तलहटी में स्थित टाइटेनिक के मलबे तक जा पहुँचते हैं। उन्हें तलाश होती है किसी अनमोल खजाने की मगर उनके हाथ लगते हैं कुछ ऐसे चित्र. जो उन्हें 102 वर्षीय रोज के पास ले जाते हैं। तब कंपकंपाते स्वर में रोज उन्हें पूरी कहानी सुनाती है। इस तरह दर्शक 1912 के दिनों में पहुँच जाते हैं। जैसे ही कहानी खत्म होती है, रोज भी अपनी आँखे मूँद लेती है. हमेशा के लिए।

इस सच्ची घटना को कनाडा के 43 वर्षीय जीनियस फिल्म निर्देशक जैम्स कैमेरॉन ने खूबसूरती के साथ परदे पर उतारा है। यू तो टाइटेनिक हादसे पर पहले भी दो फिल्म बन चुकी हैं मगर इस जैसी कामयाबी किसी को नहीं मिली। इस फिल्म ने प्रदर्शित होने के साथ ही तहलका मचा दिया और अब इसने जुरासिक पार्क का भी रिकार्ड तोड़कर दुनिया की नम्बर वन फिल्म का दर्जा हासिल कर लिया है।

फिल्म के आधे हिस्से में रोमांस का खूबसूरत और अविस्मरणीय चित्रण है जबकि शेष आधे हिस्से में तबाही के रोमांचक दृश्य हैं। दोनों ही मामले में कैमरे से अद्भुत काम लिया गया है। प्रेम की दिव्य ताकत को दर्शक खुद भी अनुभव करते हैं और तबाही के मंजर भी उनकी आँखों को नम कर

जाते है- यही है इस फिल्म की कामयाबी का कारण। हर लिहाज से टाइटेनिक एक उत्कृष्ट फिल्म है और साफ झलकता है कि निर्देशक ने फिल्म में एक-एक फ्रेम पर जबरदस्त मेहनत की है। पाँच वर्षो तक जैम अपने भाई माइकल के साथ समुद्र में उसी स्थान पर रहे जहाँ टाइटेनिक जहाज डूब गया था। एक मामूली नौका के सहारे उन्होंने जहाज के मलबे तक पहुँचकर अनेक दुर्लभ चित्र उतारे और उनके आधार पर कला निर्देशक पीटर सेमोंत ने टाइटेनिक का हूबहू सैट तैयार किया टाइटेनिक के डूबने के दृश्यों को सजीव बनाने के लिए मैक्सिको के रीसेरीहो शहर में 40 एकड़ जमीन पर एक विशाल टैंक का निर्माण किया गया। पारदर्शी काँच वाले इस टैंक में एक करोड़ 70 लाख गैलन पानी भरा गया और तब कहीं जाकर इसने समुद्र का अहसास कराया। एक हजार से अधिक मजदूरों ने दिन रात मेहनत करके इस सैट को मूर्त रूप दिया।

फिल्म को बनाने में रुपया भी पानी की तरह बहाया गया। सात हजार स्टण्टमैन फिल्म के लिए विशेष तौर पर अनुबन्धित किए गए। फिल्म का कास्टयूम बजट ही 85 लाख डालर का रहा। इस बजट में छोटे पैमाने की दो-चार फिल्मों का निर्माण हो जाए।

प्रेम और तबाही के अलावा यह फिल्म अमीरी और गरीबी के शाश्वत भेद को भी रेखांकित करती है। फिल्म से हमें पता चलता है कि टाइटेनिक कें पहले दर्जे का टिकट लेने वाले यात्रियों को विशेष सुविधाएँ प्रदान की गई थीं और तीसरे दर्जे में सफर करने वाले लोगों को हेय दृष्टि से देखा जाता था। यहाँ तक कि जहाज डूबने लगा और मुसाफिरों को बचाने का सवाल आया तो पहले दर्जे के यात्रियों को बचाने में जहाज का पूरा अमला जुट गया जबकि तीसरे दर्जे के मुसाफिरों के डेक पर ताला जड़ दिया गया ताकि वे प्रथम श्रेणी के अमीर यात्रियों की जान को आफत में न डाल सकें। उच्च वर्ग के खोखलेपन पर भी फिल्म करारे प्रहार करती है। जहाज के तीसरे दर्जे में सफर करने वाले फक्कड़ लोगों के बीच रोज के बीयर पीने और मदमस्त होकर नाचने के दृश्य निर्देशक की इसी भावना को दर्शाते हैं।

फिल्म तकनीकी लिहाज से आला दर्जे की है। डिजीटल साउण्ड तकनीक के कारण सिनेमाघर में बैठा दर्शक भी हादसे की भयावहता को आसानी से अनुभव करता है। आम तौर पर हॉलीवुड की फिल्म अधिक लम्बाई की नहीं होती मगर टाइटेनिक करीब दो सौ मिनट का सफर तय करती है। इसके बावजूद फिल्म कहीं भी बोझिल नहीं होती, तो इसका श्रेय फिल्म के चुस्त संपादन को दिया जाना चाहिए।

फिल्म में असंख्य लोगों की भीड़ है मगर कैमरा केट विलसेन्ट पर अधिक मेहरबान नजर आता है। केट की खूबसूरती को दिलकश अंदाज में दिलकश में अंदाज में कैमरे में कैद किया गया है। केट ने स्वाभाविक अभिनय से अपनी अभिनय को जीवंत बना दिया है और इस तरह वे फिल्म के बाकी कलाकारों पर हावी हो गई है। लियानार्दो दीकाप्रियो और बिली जेन के चरित्र भी अंत तक याद रह जाते हैं। रोज के निरीह प्रेमी की भूमिका में बिली संयत नजर आते हैं।

टाइटेनिक देखना एक दर्दनाक मंजर से रु-ब-रु होना तो है ही, प्रेंम और आसक्ति की पवित्रता से वाकिफ होना भी है। तभी तो टाइटेनिक जहाज का सफर भले ही खुशगवार नहीं रहा मगर टाइटेनिक फिल्म का सफर अविस्मरणीय और यादगार कहा जाएगा।

19.8 सारांश

अंत मे: यह कहा जा सकता है कि फिल्म समीक्षक की आँखों के जरिए सिने दर्शक को देखना सीखते है। इसलिए समीक्षक पर वह गुरूतर दायित्व आ जाता है कि वह जन-सामान्य की भावनाओं

का सम्मान करते हुए उन्हें संसार की इस महान कला के प्रत्येक पहलू से परिचित कराएँ और फिल्म कला को जन-जन तक पहुँचाने के महती काम में रचनात्मक हिस्सेदारी निभाएँ। फिल्म न समाज के बदल सकती है: न क्रान्ति ला सकती है मगर यह समाज के एक बहुत बड़े वर्ग में वैचारिक क्रान्ति के बीज अवश्य बो सकती है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए समीक्षक ऐसे रास्ते अवश्य खोल सकता है जिन पर चलकर अंतिम विजय हासिल की जा सकती है।

19.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. मनमोहन चड्ढा - हिंदी सिनेमा का इतिहास (सचिन प्रकाशन, नई दिल्ली)
2. फिरोज रंगनवाला - इंडियन सिनेमा पास्ट एण्ड प्रेजेंट (क्लेरियन बुक्स, नई दिल्ली)
3. विनोद भारद्वाज - नया सिनेमा (रुपा एण्ड कम्पनी, कलकत्ता)
4. श्रीराम ताम्रकर - फिल्म विशेषांक (नई दुनिया, इन्दौर)
5. हिन्दी सिनेमा का सच - (समकालिन सृजन कलकत्ता)
6. इंडियन सिनेमा (फिल्म समारोह निदेशालय, नई दिल्ली)

19.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य मे फिल्म समीक्षा के महत्व को समझाइए।
2. श्रेष्ठ फिल्म समीक्षा के आवश्यक तत्व क्या है?
3. समाज में फिल्मों के स्थान को देखते हुए फिल्म समीक्षक के महत्व की चर्चा कीजिए।
4. हाल ही प्रदर्शित किन्हीं दो ऐसी फिल्मों की समीक्षा कीजिए जो प्रचलित फार्मूलों से हटकर बनी हों और जिनमें समाज को उद्वेलित करने की क्षमता हो।

इकाई- 20 कला समीक्षा

इकाई की रूपरेखा

20.0 उद्देश्य

20.1 प्रस्तावना

20.2 कला समीक्षा का अभिप्राय

20.2.1 कला समीक्षा और आलोचना में अन्तर

20.2.2 कला समीक्षा का महत्व

20.3 कला समीक्षा के विभिन्न पक्ष

20.3.1 कला की विभिन्न धारणाएँ

20.3.2 विषय का महत्व

20.3.3 मूल्यांकन

20.3.4 कला समीक्षा की दशा और दिशा

20.4 एक अच्छे कला समीक्षक के गुण

20.4.1 विशेषज्ञता

20.4.2 विस्तृत सामान्य ज्ञान

20.4.3 पूर्वग्रह मुक्तता

20.4.4 दृष्टि सम्पन्नता

20.4.5 वस्तुनिष्ठता

20.4.6 सन्तुलित लेखन

20.4.7 सामाजिक दायित्व बोध

20.5 कला समीक्षा की विशेषज्ञताएं

20.5.1 वस्तुनिष्ठता

20.5.2 पूर्वग्रह मुक्तता

20.5.3 प्रसागिकता

20.5.4 केन्द्रीय बिन्दु की पहचान

20.5.5 सोद्देश्यता

20.5.6 निजता

20.5.7 भाषा एवं शैलीगत विशेषताएँ

20.6 सारांश

20.7 संदर्भ ग्रन्थ

20.8 निबन्धात्मक प्रश्न

20.0 उद्देश्य

फीचर लेखन एवं पत्रिका सम्पादन की इस इकाई में आप कला समीक्षा और कला समीक्षक की विशेषताओं की जानकारी पा सकेंगे और इसे पढने के पश्चात् आप -

- कला समीक्षा का अभिप्राय समझ सकेंगे।
- कला समीक्षा के विभिन्न पक्षों का विश्लेषण कर सकेगें।
- एक अच्छे कला समीक्षक के गुणों पर प्रकाश डाल सकेगें।
- कला समीक्षा की विशेषताओं का उल्लेख कर सकेगें। और .
- आप एक अच्छे कला समीक्षक बन सकेगें।

20.1 प्रस्तावना

कला समीक्षा से सम्बन्धित विभिन्न पक्षों की जानकारी करने से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि " कला' ' से हमारा क्या अभिप्राय है और कला की मूल अवधारणा क्या है? साथ ही ' 'समीक्षा' ' एवं " आलोचना' ' जैसे शब्दों के अर्थ भी स्पष्ट करने जरूरी हैं। आमतौर से समीक्षा और आलोचना में विस्तार और दायरे को लेकर भेद किया जाता है। साहित्य, कला आदि के क्षेत्र में समीक्षा की सीमा छोटी और आलोचना का दायरा विस्तृत माना जाता है।

वास्तव में, कला का क्षेत्र इतना व्यापक और विविध है कि किसी भी कला विधा की समीक्षा को किसी निश्चित परिधि तक सीमित करना सम्भव नहीं है और न ही समीक्षा के लिए कोई एक बना-बनाया ढांचा या नियमों की निश्चित विधि तय करना सम्भव हे। परन्तु, कुछ बातों को ध्यान मे रखना हर कला-समीक्षा के लिए अनिवार्य होता है। वैसे पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कला-समीक्षाओं को ध्यान से पढने का अभ्यास, कला समीक्षा के मूल-तत्वों को समझने में सहायक हो सकता है।

20.2 कला समीक्षा का अभिप्राय

यदि कला समीक्षा कों कला की विभिन्न विधाओं जैसे चित्रकला, शिल्पकला, संगीत, नृत्य, नाट्य आदि कलाओं या कला विधाओं से संबंधित घटनापरक पक्षों की समीक्षा के संदर्भ में विवेचना करें तो पुस्तक समीक्षा या साहित्य समीक्षा की तरह ही समीक्षा का अर्थ है सम्यक् परीक्षा, सम्मति, अन्वेषण आदि। इससे स्पष्ट है कि कला-समीक्षा में किसी कला-विधा या कला से संबंधित आयोजन या घटना या कला पुस्तक का सम्यक् विश्लेषण किया जाता है अथवा कला के विभिन्न पक्षों पर सम्मति दी जाती है। कला समीक्षा वास्तव में कला की विभिन्न अवधारणों के सन्दर्भ में किसी भी कला से संबंधित प्रदर्शन, आयोजन अभिव्यक्ति आदि की छानबीन करने की एक प्रक्रिया है। इस बिष्ट प्रक्रिया में कला के विभिन्न पक्षों की आलोचना, उसकी कमियाँ या अच्छाइयाँ, पूर्णता या अपूर्णता का मूल्यांकन भी शामिल है। इस प्रकार समीक्षक, कला-विशेष पर अपनी सम्मति या राय प्रगट करता है। रणवीर सिंह बिष्ट की कला पर अनिल सिन्हा की टिप्पणी या समीक्षा का अंश यहाँ उद्धृत हाई। -

"जीवन के उतार-चढावों के सड़सठ साल बिताने के बाद भी भारतीय चित्रकार रणवीर सिंह बिष्ट बार-बार अपने कठिन बचपन और जंगल-पहाड, उतराई-चढाई के बहाने कठिन मानवीय जीवन में पहुँच जाते हैं- वहाँ बहुत दूर/अपने को देखा बस्ते से लदे/पतली पगडंडी से स्कूल जाते/ अकेले पहाड की ढलान में खो जाते/घने पेड़ों से ढका हुआ एक लडका/ढलान उतरता/कोहरे में खो जाता है...'।

आज इस कठिन जीवन के आयामों के बीच बिष्ट लगातार काम कर रहे हैं तो यह काम उनके गहरे सामाजिक, राजनीतिक तथा अपने पुराने परिवेशगत लगाव की तरफ उनकी सहज व जरूरी चिन्ताओं का ही परिणाम है। लगभग पांच दशक की अपनी लम्बी रंगयात्रा के दौरान बिष्ट अनेकानेक अनुभवों एवं संवेदनाओं के बीच से गुजरे हैं।

बिष्ट के आधी शताब्दी के काम में स्वाभाविक रूप से एक विविधता है और यही उनकी विशिष्टता भी। उनके काम का फैलाव पहाड़ी एवं जंगलों से लेकर राजनीति तक है। इस विस्तार में बिखराव के खतरे भी हैं। बिखराव एवं खतरों को देखते, समझते हुए कलाकार में एक निश्चित अनुशासन की आवश्यकता होती है। बिष्ट के काम को देखते हुए ज्यादातर यही लगता है कि उन्होंने इस अनुशासन का यानी कला विधा की अपनी निजी मांग का ध्यान रखने की कोशिश की है।

20.2.1 कला समीक्षा और आलोचना में अन्तर

समीक्षा (Review) और आलोचना (Criticism) ये दोनों शब्द एक-दूसरे से भिन्न अर्थों में प्रयुक्त किए जाते हैं लेकिन, आमतौर से ये एक ही विधा के दो अलग-अलग पहलू हैं। कला-समीक्षा का अर्थ सीमित दायरे में कला का मूल्यांकन है तो कला आलोचना व्यापक अर्थ वाला शब्द है जो कला के विभिन्न पक्षों की विस्तृत आलोचना या समालोचना करने के सन्दर्भ में प्रयुक्त किया जाता है। कला समीक्षक के लिए अंग्रेजी में 'आर्ट क्रिटिक' शब्द का इस्तेमाल किया जाता है, परन्तु वैसे समीक्षा के लिए 'रिव्यू और आलोचना के लिए 'क्रिटिसिज्म' शब्दों का प्रयोग किया जाता है। समीक्षा में कला कर्म के केन्द्र बिन्दुओं, कलाकार, उसकी विधा, प्रवृत्ति आदि की चर्चा करते समय मूल रूप से उसकी कृति-विशेष पर अधिक प्रकाश डालने का प्रयास होता है जबकि आलोचना में इन्हीं पक्षों की विस्तार से चर्चा एवं मूल्यांकन किया जाता है।

इस प्रकार आलोचना का क्षेत्र समीक्षा से व्यापक होता है। यहीं व्यापक का अर्थ क्षेत्र विस्तार से नहीं, बल्कि विश्लेषण की व्यापकता से जोड़ना चाहिए। दायरा छोटा हो या बडा, लेकिन समीक्षा और आलोचना दोनों का परस्पर गहरा सम्बंध है और दोनों में ही शोध-प्रवृत्ति की आवश्यकता होती है। समीक्षा भी तथ्यों की छानबीन करती है और आलोचना की प्रक्रिया भी यही है। अंतर मात्र इतना है कि आलोचना या समालोचना में खोजबीन का दायरा व्यापक होता है।

समीक्षा और आलोचना की इन समानताओं के बीच इनकी अलग- अलग पहचान है। अपने आकार-प्रकार के कारण एक ही प्रवाह लिए होते हुए भी समीक्षा और आलोचना को एकदूसरे के पर्याय नहीं हो सकते।

20.2.2 कला समीक्षा का महत्व

कला समीक्षा की उपादेयता एवं महत्व की चर्चा करें तो यह प्रश्न पैदा होता है कि कला समीक्षा का उद्देश्य क्या है? समीक्षा एक प्रकार की अन्वेषणात्मक दृष्टि की उपज होती है जो विभिन्न कला विधाओं की पडताल करके पाठक और कला के बीच एक समझ के सेतु का निर्माण करती है। समीक्षा, कला और उसे पढ़ने, सुनने या देखने वालों के बीच एक संवाद का तादात्म्य स्थापित करने का भी माध्यम है। विभिन्न कला-आयोजनों द्वारा प्रस्तुत चित्राकृतियों, नृत्य, नाट्य, शिल्प और संगीत की विभिन्न विधाओं, समय के साथ गतिशील एवं बदलती विभिन्न कला-शैलियों आदि के प्रति आम लोगों

में रुझान और समझ को पुष्ट करने की दिशा में भी समीक्षा महत्वपूर्ण योग देती है। कलाकार या सृजनकर्त्ता को भी उसके कर्त्तव्य की कमी या अच्छाई. पूर्णता या अपूर्णता आदि का संकेत इस प्रकार समीक्षक द्वारा प्रस्तुत मत या विश्लेषण से मिल जाता है जो उसे अपनी कला का मूल्यांकन करने और किसी दिशा विशेष में अपने भीतर के कलाकार को गतिमान करने की प्रेरणा दे सकता है।

20.3 कला समीक्षा के विभिन्न पक्ष

कला का क्षेत्र अति व्यापक है। चित्रकला, शिल्प, नृत्य, संगीत, नाट्य आदि विभिन्न कला विधाओं और इनसे सम्बन्धित अनेकों शैलियों के अपने-अपने राग-रंग, शैलीगत विशेषताएँ और समीक्षा या मीमांसा के आधार और सिद्धान्त हैं। समस्त कलाओं के बीच अभिव्यक्ति और सृजन के स्तर पर कहीं समानता के बिन्दु हैं तो तकनीक और अन्य आधारों पर विभिन्नता भी है। जैसे प्रकृति में हर चीज का अपना स्वभाव एवं उसकी एक आत्मा होती है। ठीक वैसे ही हर कला की अपनी आत्मा होती है, जैसे-

"तस्वीर का सपना चौकोर है
फूल का सत्य सुगंध भरा
पानी की चिन्ता गीली है
और पत्थर का सोच ठोस
आह! चीजों की आत्मा का
अपना भी क्या ढब है। "
(अशुद्ध सारंग. हेमन्त शेष पृ. 76)

इस प्रकार विविध कलाओं की आत्मा की पहचान किए बिना उनकी समीक्षा करना ओर कला ओर उसके पाठक, श्रोता या दर्शक के बीच सामंजस्य या समझ पैदा करना संभव नहीं हो पाता।

चित्र, संगीत, शिल्प, नृत्य, नाट्य आदि विभिन्न विधाओं के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पक्ष भी अलग-अलग हैं। श्रृव्य या ध्वनि पर आधारित संगीत. मुद्राओं और हाव-भाव के साथ अंग-संचालन से सम्बन्धित नृत्य विधाएँ, चित्रकला जैसी चाक्षुष विधा आदि के अपने- अपने क्षेत्र हैं और इन विभिन्न कला शाखाओं या कला विधाओं की तकनीक, प्रक्रिया या प्रणाली और कला की समझ के बिना समीक्षा करना, न्यायसंगत नहीं है। संगीत के बिना संगीत का मूल्यांकन या परीक्षण संभव नहीं हे। इसी प्रकार चित्र-सामग्री, विषय-वस्तु, चित्र-कर्म, चित्र के आधार, रूपाकृति- आरेखन, पृष्ठभूमि निर्धारण, फलक संयोजन, रंगाभरण और चित्र-सृष्टि जैसी अनेक अवस्थाओं एवं प्रक्रियाओं की जानकारी के अभाव में किसी चित्राकृति, कृतिकार की कला की समीक्षा करना संभव नहीं है। चित्रकला मूलतः, चाक्षुक कला है। रंग, रेखा, आकृति, अवकाश आमरण, संयोजन और दृश्यांकन आदि इसके मूल पक्ष हैं ओर इन चाक्षुष रूपों का अन्तरंग और बहिरंग विश्लेषण किए बिना एक कृति या चित्रकला की समीक्षा की कल्पना नहीं की जा सकती है। नाटक के लिए रंगकर्म एवं रंगमंचीय मार्मिक रूपों की संरचना का ज्ञान आवश्यक है।

20.3.1 कला की विविध धारणाएँ

कला समीक्षा की यह भी एक शर्त है कि किसी भी कला विधा की आत्मा की तह को छूने के लिए विविध कला धारणाओं की मौलिक समझ एवं किसी भी विधा से जुड़े चिन्तन की जानकारी होनी चाहिए। भारतीय कला की अवधारणा, चिन्तन और दर्शन, पश्चिम की कला धारणाओं से भिन्न हे। भारतीय कला की अपनी परम्पराएँ और अपने मानदण्ड हैं। अपनी परिभाषाएँ हैं जैसे स्थापत्य के लिए सोच यह है कि किसी भी स्थान के उस संगठन का जो चेतना को बदल दे, शिल्प की संज्ञा दी जानी चाहिए। इस प्रकार अच्छी शिल्प रचना का मानदण्ड हे - आपकी दृष्टि, चेतना और आत्मा को अभिभूत करना।

कला के सन्दर्भ में कुमारस्वामी की दृष्टि ओर समीक्षाओं का आधार यह है। कि भारतीय जीवनदर्शन ओर कलादर्शन में कोई भेद नहीं है। वे द्वैतभाव को नहीं मानते थे। पश्चिम में जहाँ कला की अवधारणा में यह प्रश्न उत्पन्न होते हैं कि- 'कला - कला के लिए' है या 'कला- समाज के लिए' है या 'कला स्वयं के लिए' है? भारतीय कला अंग्रेजी के शब्द (आर्ट) की परिभाषा से भिन्न है। भारत में कला के अभिप्राय या अर्थ में दो वस्तुएँ निहित हैं- कटना, खंडित होना और जोडना। दोनो अर्थ हैं- कला के, खंड भी हैं और खंडित होना भी है, जोडना भी है और जोड भी है। ' कम्यूनियन' 'भी है ओर मृत्यु भी है। यह बात उस प्रकार की कला में सम्भव नहीं, जिसमें व्यक्तित्व बना रहता हे। भारतीय कला में सृजन करना कोई सचेत प्रयत्न नहीं है। कला में विभाजन नहीं है- एक लोगों के लिए ओर एक कला अपने लिए। कला केवल प्रकार्यात्मक (फंनक़्शनल) है। भारत में फाइन आर्ट. या एप्लाइड आर्ट जैसे कला विभाजन भी नहीं हैं। यहाँ कला जीवन के लिए है और इसकी आवश्यकता की पूर्ति के लिए है।

इस प्रकार के क्षेत्र में जो भी अवधारणाएँ. ऐतिहासिक. सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक संदर्भ ओर समय के साथ बदलते मुहावरे और प्रचलित विभिन्न वाद भी कला की परख करने में सहायक होते है और चीजों को सही और ठीक परिप्रेक्ष्य में देखने और रखने में मदद करते हैं।

20.3.2 विषय का महत्व

समीक्षा के लिए यह भी आवश्यक तत्व है कि समीक्षा में विषय- वस्तु या कथ्य का समावेश हो। कोई भी कलाकृति या कला विधा किसी तथ्य या कथ्य की ओर संकेत करती है। साथ ही प्रस्तुति को शैली भी विषय के अनुरूप होनी चाहिए।

संगीत को ही लें तो इसमें वाद्य-संगीत. कंठ-संगीत और विभिन्न प्रकार की संगीत परम्पराएँ हैं। शास्त्रीय संगीत की भी अपनी शैलियाँ हैं। अत: समीक्षा में यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि समीक्षा किस प्रकार के पाठकों या लोगों के लिए लिखी जा रही है और समीक्षा उन पाठकों को विधा या शैली विशेष की बारीकियों को समझने तथा संगीत का ज्ञान कराने में कितनी उपयोगी सिद्ध हो सकती है।

कला विशेष की प्रासंगिकता क्या है? प्रस्तुति किस प्रकार की है? कितना प्रभाव छोडने में समर्थ रही है? कला के किन-किन पक्षों को छूने का प्रयास किया गया है? इस प्रकार के प्रश्नों के उत्तर भी समीक्षा में शामिल होने चाहिए।

20.3.3 मूल्यांकन

किसी भी कला विधा से संबंधित परिचयात्मक बातों की जानकारी के बाद मूल्यांकन की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। कला की समीक्षा को श्रेष्ठता का मापदण्ड, निरपेक्ष भाव से बिना पूर्वाग्रहों के किया गया मूल्यांकन ही होता है। समीक्षा का संतुलित मूल्यांकन, समीक्षक की कला-विधा पर पकड़, उसके ज्ञान, अनुभव, अनुभव और दृष्टि की सम्पन्नता पर बहुत कुछ निर्भर करता है। मूल्यांकन करने का कार्य एक उत्तरदायित्वपूर्ण काम है जो समीक्षक की निष्ठा, योग्यता और विश्वसनीयता का परिचय देता है। कला समीक्षा के सन्दर्भ में एक समीक्षा का अंश प्रस्तुत है -

'कल प्रगति मैदान में मंजर थियेटर में मध्य प्रदेश रंगमंडल द्वारा प्रस्तुत गारा की गाड़ी देखा, इतनी निराशा हुई कि कहना मुश्किल है। कारंत अपने काम के प्रति इतने लापरवाह कैसे हो पाते हैं नाटक में न तो दृश्यात्मक पक्ष अच्छा था, न संगीत, न अभिनय। प्रस्तुति की परिकल्पना अच्छी भी नहीं है, फिर भी उसको कार्यान्वित करने में बहुत कम सावधानी बरती गई है, ऐसा लगता था। एक अजब ढंग की खीज पैदा करने वाली अव्यवस्था और नौसिखियापन का बार-बार अहसास होता था।

कारंत के काम में इतनी ऊंच-नीच का कारण ठीक समझ में नहीं आता। यानी उनकी सृजनात्मकता का स्रोत क्या है? कैसे है? वह किन परिस्थितियों में सक्रिय होता है? एक तरह का ट्राई- आऊट का आभास होता है। उनके काम में हो जाए तो ठीक अन्यथा जो भी बन जाए। अपने काम के प्रति पर्याप्त आत्म-सजगता और तीव्र आलोचनात्मक दृष्टि का अभाव लगता है। ऐसा भी लगता है कि कुछ समय बाद वह हर चीज से ऊब जाते हैं और उसको पूर्णता की ओर ले जाने में उनकी रुचि ही नहीं रहती। किसी भी महत्वपूर्ण रचनाकार के लिए यह घातक मानसिकता है।

यह सवाल भी उठता है कि आखिरकार कारंत को एक महत्वपूर्ण और शीर्षस्थ कोटि का मानने का आधार क्या है? उनकी रंग-दृष्टि की कौनसी विशेषताएँ वास्तव में श्रेष्ठता की कोटि में आती है?' (कलाओं से मुठभेड़ नेमिचन्द्र जैन की डायरी - 'कला प्रयोजन')

यहाँ समीक्षा के अंश का मूल केंद्र नाटक के निर्देशक की विशेषताओं और रंग-दृष्टि तक सीमित है।

20.3.4 कला समीक्षा की दशा और दिशा

कला समीक्षा के क्षेत्र में विभिन्न विधाओं का ज्ञान, अनुभव और समीक्षा के आधारभूत तत्वों की समझ रखने वाले समीक्षकों की कोई कमी नहीं है। लेकिन अधिकांश समीक्षक हिन्दी में समाचारपत्रों या पत्रिकाओं से जुडे हुए हैं। कला समीक्षाएँ लिखना भी इनमें से कई लोगों के व्यवसाय का अंग है। किसी विधा विशेष का कोई जानकर समीक्षक है तो वह उस विधा की समीक्षाएँ करने का कार्य न्यायपूर्ण ढंग से कर सकता है। परन्तु उसे हर विधा की समीक्षा लिखनी पडे तो गुणात्मकता या मानदण्डों के अनुरूप सन्तुलित और स्तरीय समीक्षा लिखने की अपेक्षा नहीं की जा सकती।

कई बार समीक्षक भी समीक्षकों या समीक्षा की दशा और दिशा की चर्चा करते है। एक मत यह भी है कि हिन्दी में लिखी जाने वाली कला समीक्षाओं में बहुत सारी असंगतियाँ हैं। इसमे पत्रकारिता के दबावों से उत्पन्न एक तात्कालिक जरूरत के रूप में समीक्षकों की औपचारिकता पूरी करने वाली समीक्षाएँ हैं। इस प्रकार की औपचारिकता निभाने वाली समीक्षा के प्रसंग में यह भी कहा जाता हे कि हिन्दी की कला-समीक्षा अभी अपने मानक स्वरूप की खोज नहीं कर पाई है।

अधिकांश कला-समीक्षक या तो कवि हैं या पत्रकार या लेखक। कला की किसी विधा विशेष का ज्ञान, अनुभव और योग्यता रखने के साथ-साथ समीक्षा करने की क्षमता रखने वाले विशेषज्ञों से ही समीक्षाएँ लिखवाने की परम्परा बहुत कम माध्यमों द्वारा अपनाई जाती है। अधिकांशत: समाचार माध्यमों में लिखना समीक्षा लिखना अखबारों के सम्पादकीय विभाग में कार्यरत लोगों के रोजमर्रा के दायित्वों का एक हिस्सा है। कुछ समाचारपत्र या पत्रिकाएँ हैं, जो इस सन्दर्भ में विशेषज्ञता को महत्व देते हैं।

कला-समीक्षा को पुष्ट करने के लिए यह आवश्यक है कि समीक्षक में कला-विशेष या कलाओं तो सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पक्षों की गहराई एवं अंतरंगता के साथ समझ हो। एक सटीक अन्तर्दृष्टि के बिना कला-कर्म की परख करना और उसकी न्याय-संगत समीक्षा करना सम्भव नहीं है। हिन्दी मे कला-समीक्षा के क्षेत्र की समीक्षा की जाए तो यह तथ्य उभर कर आता है कि हिन्दी की समकालीन कला-समीक्षा जिसे आमतौर से कला-आलोचना (Art criticism) कहते हैं, अंग्रेजी में लिखी जाने वाली समीक्षाओं की तुलना में दुर्बल मानी जाती है। कला-समीक्षा की विधा को परिष्कृत एवं सबल बनाने की आवश्यकता पर कई कला समीक्षक बल देते हैं। यदि अंग्रेजी भाषा में लिखी जाने वाली समीक्षाओं के मुकाबले हिन्दी में लिखी जाने वाली समीक्षाओं की कमी है तो सक्षम और सबल कला समीक्षकों का यह दायित्व है कि वे इसके कारणों की तलाश करें और परिदृश्य को बदलने में योग दे।

हिन्दी की कला-समीक्षा का क्षेत्र भी व्यापक और समृद्ध है, परन्तु विश्लेषण से यदि इसमें भाषा के स्तर पर कमी हो तो उसको दूर करने की चेष्टा होनी चाहिए। जी. सुब्रमण्यम के शब्दों में कला-समीक्षा के क्षेत्र में प्रचलित प्रवृत्तियों में से एक प्रवृत्ति की ओर सकते मिलता है- " Even today most of our art-critics are unaware of the ‘ complete art-scene of the country and do not seem to feel the necessity for it, either they have a few artists up their sleeve, whom they are able to reach without effort, and on every possible occasion they force them out in a near little parado and render them relentless homage. A feddal sense of allegiance to his chosen idel is a stranding trait of the Indian Art critic, a loyalty that age does not wither nor custom state……”

इस प्रकार कुछ कलाकारों के प्रति अनावश्यक भक्तिभाव आस्था रखते हुए उनके कृतित्व तो गुणगान करना और एक सामन्ती मानसिकता की बुराई से ग्रस्त होने की प्रवृत्ति के कारण भी अनेक प्रतिभाएं कला क्षेत्र में अनजान रह जाती है और उनकी कला को उचित समीक्षा और सम्मान नहीं मिल पाता। अत: इस प्रवृत्ति पर भी विचार करने एवं कला क्षेत्र की अनेक प्रतिमाओं की उपेक्षा करने की प्रवृत्ति को समाप्त करने के प्रयास करने आवश्यक हैं।

बोध प्रश्न- 1

1. कला की परिभाषा देते हुए उसके अर्थ ओर स्वरूप को स्पष्ट कीजिए।
2. कला समीक्षा और आलोचना में अन्तर स्पष्ट कीजिए।
3. कला समीक्षा की दशा और दिशा पर एक आलोचनात्मक टिप्पणी लिखिए।
4. हिन्दी की कला-समीक्षा का क्षेत्र व्यापक और समृद्ध है- क्या आप इस कथन से सहमत हैं? विवेचना कीजिए।

20.4 एक अच्छे समीक्षक के गुण

कला की दशा और दिशा का आंकलन करने और यथार्थ के धरातल पर उसकी निरपेक्ष (Objective) समीक्षा का माहौल बनाने और उसे मजबूत करने के साथ-साथ आधुनिक कला को भारतीय कला- धारा और चिन्तन की जड़ों से जोडने के सन्दर्भ में- ' आर्ट एण्ड लाईफ इन इण्डिया' पुस्तक में पश्चिमी कला-चिन्तन और भारतीय कला-परिप्रेक्ष्य के सन्दर्भ में व्याप्त द्वन्द्व के बारे में लिखा गया है कि- 'कुछ लोगों का आरोप है कि भारतीय कला जीवन से कट रही है और यह आरोप अमूर्तन। (Abstraction) की ओर उन्मुख कला पर अधिक लगाया जाता है। इसके अलावा दूसरा विचार यह है कि कई कला विधाएँ।(Art forms) जीवन के अधिक करीब आई हैं। इस विचार के समर्थक मानते हैं कि कला का कार्य मनोरंजन के साथ व्यक्ति को मानसिक एवं आत्मिक स्तर पर ऊपर उठाना (Enlight) भी है।

कला और जीवन के बीच के रिश्तों का मसला एक समसमायिक मुद्दा है और इसकी जड़ों को तलाशना और सिंचित करना, कलाकारों और कला समीक्षकों का दायित्व है। दरअसल, सृजन और उसका आकलन, आपस में एक संयुक्त इकाई है। सृजन और दर्शक, श्रोता या समीक्षक के बोध। (Perception) के बीच तालमेल बैठना (Synchronization) कई कारकों पर निर्भर करता है। समीक्षक और रचनाकार या सृजनकर्ता के बीच विचार या अनुभव का आदान-प्रदान, कलाकृति या कला के धरातल पर, एक पेचीदी प्रक्रिया है। ' तभी यह कहा गया है- ' Convergence of transmission from the artist and reception by the viewer on the same wavelength is profoundably, a matter of experience'

ऐसी स्थिति में समीक्षक का कार्य एक दुष्कर कर्म है और इसे सम्पन्न करने के लिए उसमें योग्यता, अनुभव एवं अभिव्यक्ति के स्तर पर अनेक गुणों एवं एक प्रकार की विशेषता की आवश्यकता होती है। एक अच्छा समीक्षक बनने के लिए यह जान लेना आवश्यक है कि इस कार्य को संपादित करने या समीक्षक के कर्म को पूरे दायित्व के साथ निभाने के लिए किन-किन गुणों का होना अपरिहार्य है।

एक अच्छा समीक्षक बनने की क्षमता प्राप्त करने के लिए जरूरी है कि आप कला की जिस विधा से परिचित हैं, जिसके विभिन्न पक्षों का आपको पूरा सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक ज्ञान है, उसी विधा की समीक्षा करें। समीक्षा लिखते समय समीक्षक का व्यक्तिगत या कला पूर्वाग्रहों से युक्त होना भी आवश्यक शर्त है। समीक्षक में विस्तृत सामान्य ज्ञान, दृष्टि-सम्पन्नता और वस्तुनिष्ठता के गुण भी होने चाहिए। लेखन संतुलित हो। भाषा शैली और मुहावरों का प्रयोग सहज, सरल और कला विधा विशेष के अनुरूप हो। समीक्षक को सामाजिक दायित्व के प्रति भी सजग होना चाहिए।

कला समीक्षक में निम्नलिखित गुण होने चाहिए-

1. विशेषज्ञता
2. विस्तृत सामान्य ज्ञान
3. पूर्वग्रहमुक्तता
4. दृष्टि संपन्नता
5. वस्तुनिष्ठता
6. संतुलित लेखन
7. सामाजिक दायित्व बोध

20.4.1 विशेषज्ञता

एक अच्छे और निपुण समीक्षक के लिए पहली शर्त यह है कि वह उसी विधा की समीक्षा करे जिससे वह भली-भाँति परिचित हो। हर विधा के अपने- अपने विविध पक्ष होते हैं और विधा विशेष में पारंगत न भी हो तो उसके हर पक्ष की गहराई तक पहुंचने की एक समीक्षक में योग्यता और क्षमता होनी चाहिए। संगीत, नृत्य, नाट्य, शिल्प, स्थापत्य, चित्रकला आदि विभिन्न कला-विधाओं की समीक्षा के परिप्रेक्ष्य में यह भी आवश्यक है कि एक विधा विशेष के बारे में जानकारी के साथ इन विविध विधाओं के आपसी रिश्तों और इनकी सृजन-प्रक्रिया या प्रदर्शनात्मक. प्रस्तुति आदि पक्षों का भी ज्ञान होना चाहिए।

यदि संगीत की विविध शैलियों और विभिन्न पक्षों का ज्ञान रखने वाला समीक्षक शिल्प या चित्रकला की समीक्षा करे या चित्रकला का ज्ञान रखने वाला संगीत के बारे में मोटी-मोटी बातों या सामान्य पक्षों की जानकारी करके उसकी समीक्षा करे तो ऐसी समीक्षा में यह सम्भव है कि वह सतही समीक्षा की सीमा तक सिमट जाए। समीक्षा त्रुटिपूर्ण होने का भी खतरा है। नीम-हकीम बनने या सब विधाओं का थोडा- थोड़ा ज्ञान प्राप्त कर लेने के बजाय किसी एक विधा में विशेष बनने की चेष्टा करनी चाहिए ताकि समीक्षा की श्रेष्ठता कायम हो और समीक्षक की भी एक खास पहचान बने।

द न्यू एस्थेटिक्स में लिखा गया है कि - Scientific evaluation of each discipline of art necessitates a separate aesthetics in order to do justice to the technique, method and contention of these disciplines like music,drama, painting. While ten percent of their fundamentals are common, the remaining are qualitatively and exclusively independent of each other. It is thus, evident that a person specializing only in music should be refrained from unnecessarily indulging in matters of critical evaluation of painting”

इस प्रकार कला की हर विधा का क्षेत्र व्यापक और गहन है। अत: विशेषज्ञता के बिना सफल और सक्षम समीक्षक की कल्पना नहीं की जा सकती।

20.4.2 विस्तृत सामान्य ज्ञान

किसी विशेष कला-विधा में निपुणता के साथ समीक्षक से यह भी अपेक्षा की जाती है कि उसका सामान्य-ज्ञान भी विस्तृत हो। समसामयिक कला के बारे में पुख्ता जानकारी के साथ सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक परिवेश एवं सामाजिक सोच के बारे में भी सामान्य ज्ञान होना आवश्यक है, क्योंकि इससे समीक्षा समृद्ध होती है। कला और जीवन का आपस का निकट सम्बन्ध है।' इसलिए कला के विभिन्न क्षेत्र भी एक-दूसरे पर परस्पर निर्भर होते हैं।

एक समीक्षक की डायरी का अंश यहाँ उद्धृत है- "खजुराहों के मंदिरों की पृष्ठभूमि में शास्त्रीय नृत्यों का प्रदर्शन देखना एक अविस्मरणीय अनुभव है। नृत्यों को जहाँ एक सहज स्वाभाविक स्थल, आवास मिलता है वहीं मंदिर जैसे जीवंत और प्रासंगिक हो उठते हैं- निरे स्मारक नहीं, बल्कि समकालीन सौन्दर्यानुभूति के वाहक/मंदिरों की पृष्ठभूमि में नर्तकी का व्यक्तित्व एक नया ही आयाम हासिल करता है। मंदिर की दीवारों पर अंकित प्रतिमाओं और सजीव नर्तकी के बीच की सीमा-रेखा मिटने लगती है

और नृत्य की भंगिमाएँ एक विराटता हासिल कर लेती है। साथ ही एक नये रूप में सामने उजागर होता है- हमारे देश में कलाओं का अन्त:संबध, एक ही सौन्दर्यबोध, जीवनदृष्टि-मूर्तिशिल्प और नृत्यों में व्याप्त है। अलग-अलग माध्यमों में अलग-अलग आकार लेती हुई रस ग्रहण करती हुई। यह अपने आप में एक महत्वपूर्ण प्रतीति है, जो हमारे आज के कलाकर्म और उसके आस्वादन को एक नया परिप्रेक्ष्य देती है। इसी प्रतीति की एक अन्य कडी है कि शैलीगत विविधता के बावजूद हमारे सभी नृत्य किसी एक ही प्रकार के लय, गीत और रूप के बोध से जुड़े हैं- वे अलग-अलग होकर भी एक है।"

(नेमिचन्द्र जैन)

इस प्रकार विविध नृत्य शैलियों और अन्य कलाओं के परस्पर रिश्तों का ज्ञान किसी भी एक विधा की समीक्षा को रोचक और सबल बनाने में योग देता है।

20.4.3 पूर्वग्रहमुक्तता

संतुलित एवं वैज्ञानिक आधार पर समीक्षा लेखन के लिए समीक्षक का पूर्वग्रह मुक्त होना अत्यन्त आवश्यक है। पूर्वग्रह व्यक्तिगत भी हो सकता है और विषय से संबंधित भी। समीक्षा कर्म में व्यक्तिगत पूर्वग्रह सर्वथा त्याज्य है। समीक्षक को अपने आप में एक निर्लिप्त भाव और सोच विकसित करने का पूरा प्रयास करना चाहिए- जहाँ उसके लिए न कोई मित्र है और न ही कोई शत्रु। **पूर्वग्रह का त्याग किए बिना समीक्षक के रूप में सफलता पाना मुमकिन नहीं है।**

पूर्वग्रह के संदर्भ में व्यक्तिगत पूर्वग्रह के अतिरिक्त किसी भी कला-पक्ष या विधा के बारे में समीक्षक का अपना मत या धारणा हो सकती है लेकिन यदि वह अपनी व्यक्तिगत धारणाओं को लादने की चेष्टा करेगा और उसका मानदण्ड उसकी अपनी पसंद या नापसंद पर आधारित होगा तो वह अपने लक्ष्य से भटक जाएगा। अत: तर्कसंगत आधार पर समीक्षा की जानी चाहिए।

20.4.4 दृष्टि-संपन्नता

समीक्षक की दृष्टि खुली होनी चाहिए, दृष्टिगत संकीर्णता समीक्षा को दुर्बल बनाती है। दृष्टिगत संकीर्णता के मुख्य दो कारण होते हैं- अज्ञान और किसी मत या वाद विशेष के प्रति आग्रहशील होना। अज्ञानता किसी व्यक्ति के दृष्टिकोण को स्वभावत: संकीर्ण बना देती है। दूसरी ओर अगर कोई व्यक्ति किसी विशेष विचारधारा में विश्वास रखता है और अपनी विचारधारा के अलावा किसी अन्य विचारधारा का सम्मान नहीं करता तो उसके लेखन में वैचारिक पूर्वग्रह पैदा हो जाता है।

समीक्षा में ही नहीं बल्कि विभिन्न समाचार और अन्य माध्यमों में भी यह प्रवृत्ति देखने को मिलती है कि पश्चिम मीडिया शेष दुनिया से संबंधित समाचारों की भाषा, शब्दों और कथ्य को एक विशेष रंग में तोड़-मरोड़कर ढालने की प्रवृत्ति का शिकार है। ऐसे- में निष्पक्षता एवं विश्वसनीयता घटती है। समीक्षक को भी अपनी दृष्टि को साफ-सुथरा रखना चाहिए। समीक्षा के लिए उदार और पूर्वग्रह मुक्त दृष्टिकोण का होना महत्वपूर्ण है। व्यापक दृष्टिकोण के साथ कला का सम्यक आकलन एवं मूल्यांकन की प्रवृत्ति का होना, समीक्षक के प्रमुख गुणों में शामिल है।

20.4.5 वस्तुनिष्ठता

पूर्वग्रहों तथा दुराग्रहों को छोडकर, तटस्थता के साथ किसी भी कला विधा का वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन करना चाहिए। रागद्वेष से रहित होकर विधा-विशेष का निरपेक्ष रूप से विवेचन करना ही

समीक्षक का दायित्व है। इसके अलावा कला समीक्षक को जिस कला के आयोजन, प्रदर्शन या प्रस्तुत की समीक्षा करनी है उसको सही परिप्रेक्ष्य में रखकर जांचना चाहिए। आत्मनिष्ठता नहीं होना चाहिए। वस्तुनिष्ठता अपना लेने से आत्मनिष्ठता एवं पूर्वग्रह के खतरों को टालना सम्भव है।

20.4.6 संतुलित लेखन

समीक्षा में संतुलित लेखन का विशेष महत्व है। इसका संबंध पूर्वग्रह मुक्तता, दृष्टि-संपन्नता और वस्तुनिष्ठता से है। किसी भी विधा की अनावश्यक निन्दा या बुराई करने का काम समीक्षा-कर्म में बाधा उत्पन्न करता है। निष्पक्षता के साथ, तर्कपूर्ण एवं शिष्टता शैली में किसी भी कला के दुर्बल या सबल पक्षों की आलोचना या प्रशंसा संतुलित ढंग से करनी चाहिए। सम्यक् मूल्यांकन, संतुलित भाषा. तर्क-संगत ढंग और सही परिप्रेक्ष्य के साथ की गई समीक्षा, लेखन की सबलता के साथ समीक्षक के संतुलित रूप में लेखन करने के गुण का भी परिचय देती है।

20.4.7 सामाजिक दायित्व बोध

समीक्षक समाज का एक अंग है। समाज के प्रति उसका एक दायित्व है। कला की विविध धाराओं, विधाओं और कलाकर्म से आम प्रेक्षक, पाठक या लोगों को परिचित करवाना और कलाकर्म एवं कला के प्रति सम्मान रखने वालों के बीच एक संवाद की स्थिति पैदा करना, समीक्षक का सामाजिक कार्य है। कला के साथ जुड़ने और कला-हलचल में आम भागीदारी के प्रेरित करने की दिशा में समीक्षक की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। कला मानव मात्र की रचनात्मक शक्ति की सौन्दर्यमय अनुभूति है और इस अनुभूति को बांटना, कला कर्म में समाज को संस्कारित करने की परम्परा का एक अंग बनना भी समीक्षक का सामाजिक कर्त्तव्य है। उसका कार्य समाज को कला के माध्यम से उत्कृष्ट वातावरण तैयार करने की ओर भी उत्प्रेरित करना है।

20.5 कला समीक्षा की विशेषताएँ

कला समीक्षा से सम्बन्धित विविध पक्षों एवं विशेषताओं के विभिन्न पहलुओं की चर्चा करते समय यह ध्यान देना आवश्यक है कि कला की परख करना और उसका वैज्ञानिक ढंग से विश्लेषण करना, एक आसान कार्य नहीं है। कला की विविधता एवं शैलियों आदि का फलक अत्यन्त ही व्यापक है। कला की गहराइयों में जाने की प्रक्रिया, समुद्र में डुबकी लगाने के समान है। एक सक्षम और सबल समीक्षक के गुणों का प्रतिफल ही तो होती है- समीक्षा। उसने प्रयत्नों के परिणाम, समीक्षा में झलकते हैं। अत: समीक्षक के गुणों का उल्लेख कला की विशेषताओं में भी सम्मिलित हो जाते हैं। एक अच्छे कला समीक्षक की विशेषताएँ इस प्रकार है। -

1. वस्तुनिष्ठता
2. पूर्वग्रह मुक्तता
3. प्रासंगिकता
4. केन्द्रीय बिन्दु की पहचान
5. सोद्देश्यता
6. निजता
7. भाषा एवं शैलीगत विशेषताएँ

20.5.1 वस्तुनिष्ठता

एक श्रेष्ठ समीक्षा की पहली विशेषता यह है कि समीक्षा का आधार वस्तुनिष्ठता होनी चाहिए। अनावश्यक निन्दा या प्रशंसा किए जाने पर समीक्षा वस्तुनिष्ठता की सीमा से भटक जाती है। प्रशंसात्मक. प्रचारात्मक और परिचयात्मक लेखन समीक्षा को विज्ञापन की श्रेणी में ला देता है। व्यक्तिगत धारणा से मुक्त होकर, समीक्षा का केन्द्र बिन्दु वस्तुनिष्ठता होना चाहिए। अत: समीक्षा की एक और महत्वपूर्ण विशेषता वस्तुनिष्ठता (Objectivity) है।

20.5.2 पूर्वग्रहमुक्तता

यदि समीक्षक पूर्वग्रह से मुक्त होगा, तो समीक्षा में भी उसका यह गुण परिलक्षित हुए बिना नहीं रहेगा। अन्य प्रकार या साहित्यिक समीक्षाओं की तरह कला समीक्षा वस्तुनिष्ठ तभी बन सकती है, जब वह पूर्वग्रह से मुक्त है। समीक्षक को वस्तुनिष्ठता लाने के लिए पूर्वग्रह से छुटकारा तो पाना ही पड़ता है। तर्कसंगत एवं वैज्ञानिक विवेचन से ही समीक्षा का ध्येय पूर्ण हो सकता है।

20.5.3 प्रासंगिकता

समीक्षा में समकालीन सोच की धड़कन होनी चाहिए। समीक्षा जीवंत तभी हो सकती है जब उसे प्रासंगिक बनाया जाए। पाठक समसामयिक कला कर्म की ताजा घटनाओं के सम्पर्क में रहना चाहता है। अत: समीक्षाएँ बिना विलम्ब के प्रस्तुत की जानी चाहिए ताकि पाठक को समय की दृष्टि से कोई चीज अप्रासंगिक नहीं लगे। अप्रासंगिक समीक्षाओं का सम्मान पाठक नहीं करता है।

20.5.4 केन्द्र बिन्दु की पहचान

यह सच है कि कला के विविध पक्ष एक-दूसरे से जुड़े होते हैं और किसी भी समीक्षा में पूर्णता का बोध कराने की दिशा में समीक्षा की सीमाएँ और आकार बाधा उत्पन्न कर सक्ता है। अत: सभी पक्षों की विस्तृत विवेचना करना समीक्षा में सम्भव नहीं हो पाता। लेकिन कहीं न कहीं एक केन्द्र बिन्दु पर प्रकाश डालते हुए सारे पक्षों को समेटकर समीक्षा में पूर्णता का समावेश किया जा सकता है। यह देखना चाहिए कि समीक्षा में कौन से बिन्दु या कथ्य में पाठक की अभिरुचि हो सकती है या किसी पक्ष की विवेचना को को बिन्दु बनाना अपेक्षित है।

20.5.5 सोद्देश्यता

कला समीक्षा कला और उसके प्रेक्षक, पाठक और कला प्रेमियों के बीच एक संवाद कायम करने या समझ का एक पुल तैयार करने का कार्य करती है। समीक्षा का उद्देश्य या ध्येय अवश्य होना चाहिए। वैसे भी समीक्षक कोई निरर्थक प्रयत्न नहीं करता। समीक्षा की सार्थकता का मापदण्ड यह है कि कला कर्म को समझने, उसमें अभिरुचि लेने, मनोरंजन एवं ज्ञान में वृद्धि करने के साथ-साथ कला-चेतना के द्वारा समाज में उत्कृष्टता और संवेदना का धरातल पक्का करना है। समीक्षक को यह बिन्दु भी ध्यान में रखना चाहिए कि समीक्षा के किन पक्षों में आखिर पाठक की जिज्ञासा हो सकती है। समीक्षा का लक्ष्य पाठक या कला के प्रति रुझान रखने वालों तक कोई बात पहुँचाना है। इसलिए इस लक्ष्य को पाने के लिए समीक्षा उद्देश्यपूर्ण एवं सार्थक होनी चाहिए।

20.5.6 निजता

हर समीक्षक का अपना दृष्टिकोण, सोच और शैलीगत विशेषताएँ होती हैं। समीक्षक की विश्लेषण क्षमता के कारण ही समीक्षाओं का स्वरूप अलग-अलग होता है। लेखन की यह निजता समीक्षा की एक महत्वपूर्ण विशेषता है। हर समीक्षक की निजता भी समीक्षा में परिलक्षित होनी चाहिए। लेकिन अत्यधिक विद्वता, दुरूहता और क्लिष्टता की प्रवृत्ति से समीक्षक को बचना चाहिए। स्पष्टता और सहज अभिव्यक्ति के साथ निरपेक्ष रूप से लिखी जाने वाली समीक्षाएँ समीक्षक के स्तर और निजता का बोध कराती हैं।

20.5.7 भाषा एवं शैलीगत विशेषताएँ

कला समीक्षा की भाषा सरल, सहज और सम्प्रेष्य होनी चाहिए। कला के तकनीकी मुहावरों या कलाकर्म से सम्बन्धित शब्दों का प्रयोग करते समय यह ध्यान रखना आवश्यक है कि हर पाठक की समझ में आने वाले शब्द और भाषा का प्रयोग किया गया है। भाषा एवं शैली रोचक और दृश्यात्मक हो ताकि पाठक के मस्तिष्क में कला की कोई भी घटना या प्रस्तुति चित्र की तरह सजीव हो उठे। समीक्षा पढने में उसका रुझान बढे। इस प्रकार सुपाठ्य और रोचक शैली में लिखी गई कला समीक्षाएँ, समीक्षक की परिपक्वता, उसके विस्तृत ज्ञान और लेखन क्षमता का परिचय देती है। भाषा और शैली की दुरूहता में जकड़ी समीक्षा कभी भी श्रेष्ठ समीक्षा की श्रेणी में नहीं आती। कला विधा के अनुरूप शब्द और भाषा होनी चाहिए। सरलता में ही सरलता है। अत: सहज और सरल होकर गम्भीर बात करना, उसमें रोचकता पैदा करना, समीक्षक का जहाँ गुण है, वहीं यह समीक्षा की विशेषता भी है।

बोध प्रश्न- 2

1. एक कुशल एवं योग्य कला समीक्षक के गुणों की विवेचना कीजिए।
2. किसी भी कला समीक्षक के लिए पूर्वग्रह से मुक्त होना जरूरी है- क्या आप इस कथन से सहमत हैं?
3. कला समीक्षा करते समय किन- किन बिन्दुओं का ध्यान रखना चाहिए।
4. संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए-
   अ. कला समीक्षा में वस्तुनिष्ठता
   ब. कला समीक्षा की भाषा-शैली
   स. कला समीक्षा की सोद्देश्यता
   द. कला समीक्षा और प्रासंगिकता

20.6 सारांश

समीक्षा चाहे कला की हो' साहित्य कृति की हो या किसी अन्य वस्तु की- उसमें एक प्रकार की वस्तुनिष्ठता (objectivity) और गतिशीलता का होना आवश्यक है। समय के साथ बोध (Perception) और सृजन की प्रक्रिया के तौर-तरीकों बिम्बों प्रतिबिम्बों और धाराओं में एक परिवर्तन का निरंतर चलने वाला प्रवाह परिवर्तन रहता है। यह परिवर्तन परिवेश में और अधिक तेज रफ्तार से जीवन और कला दोनों के क्षेत्रों में परिलक्षित हो रहा है। ऐसी परिस्थिति मे: कला समीक्षा के बने बनाए

ढांचे या मानदण्डों को लेकर चलना या समय की भाषा को बिना पढ़े समीक्षा कर्म करना न्याय संगत नहीं हो सकता।

समीक्षक के सामने समय और बदलाव की तेज गति ने अनेक चुनौतियाँ पैदा कर दी हैं। वह एक ऐसी दुनिया का अंग बन गया है: जहाँ दूरियाँ घट गई हैं और सारी दुनिया सूचना तकनोलाँजी या इलाक्ट्राय क्रान्ति की चपेट में है। अत: समीक्षक के अपनी जड़ों को पकड़े रहने के साथ-साथ समय की गीत के साथ गतिशील होकर एक विस्तृत परिवेश और व्यापक ढांचे में समीक्षा कर्म करने और समय के तेवर को समझने की चुनौती का सामना करने के लिए तैयार रहना चाहिए। इसके अतिरिक्त सृजन (Creation) और सृजनकर्ता (Creator) के स्तर पर निरंतर होने वाले परिवर्तनों को समझकर भौतिक मानसिक एवं आध्यात्मिक स्तरों पर कला-प्रभावों की विवेचना विश्लेषण और मूल्यांकन करके कला समीक्षा- विधा हमे एक सार्थक दिशा देने का निरंतर प्रयास करते रहना चाहिए।

यदि जिज्ञासा के साथ कला एक समाज की संवेदना की गहरी जडों में झांकने' विविध प्रकार के प्रयोगों कला रूपों' माध्यमों आदि के साथ सामंजस्य स्थापित करने की ओर उन्मुख होकर समर्पित भावना से कला- समीक्षा कर्म का अभ्यास किया जाए तो भारतीय कला समीक्षा के निर्बल पक्षों को पुष्ट करना ही सम्भव नहीं होगा बल्कि कला को उसके यथार्थ और ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में ठीक से समझने और उसका मूल्यांकन करने का मार्ग प्रशस्त किया जा सकेगा।

20.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. Tames Tosep (edt) : “Art and life in India in India - the last four Decades”, Indian Insititude of Advanced Study, Shimla in association with B.R.Publshing Coporation, Delhi
2. कला प्रयोजन (1 से 5 अंक) : प्रकाशन पश्चिम क्षेत्र सांस्कृतिक केन्द्र, उदयपुर
3. Lipsey, Royer, (edt) : Commarswamy : Selected papers : Traditional Art and Symbolism, oxford University, Delhi.

20.8 निबन्धात्मक प्रश्न

1. कला समीक्षा का अभिप्राय क्या है? कला-समीक्षा और आलोचना में अन्तर स्पष्ट कीजिए।
2. कला समीक्षा का महत्व एवं उसकी प्रासंगिकता पर एक आलोचनात्मक लेख लिखिए।
3. एक सफल कला समीक्षक की योग्यता अथवा गुणों पर प्रकाश डालिए।
4. आपकी दृष्टि में कला समीक्षा की विशेषताएँ क्या है?
5. चित्रकला, संगीत, नृत्य आदि में से किसी एक विषय पर समाचारपत्र के लिए एक कला समीक्षा लिखिए।

इकाई- 21 पुस्तक समीक्षा

इकाई की रूपरेखा

21.0 उद्देश्य

21.1 प्रस्तावना

21.2 पुस्तक-समीक्षा क्या है?

21.3 पुस्तक-समीक्षा के प्रकार

21.3.1 परिचयात्मक पुस्तक-समीक्षा

21.3 2 विश्लेषणात्मक पुस्तक-समीक्षा

21.3.3 मूल्यांकनपरक पुस्तक-समीक्षा

21.3.4 संक्षिप्त या विस्तृत पुस्तक- समीक्षा

21.3.5 मीडिया के आधार पर पुस्तक-समीक्षा

21.3.6 कुछ समीक्षाएं

21.4 पुस्तक-समीक्षा का इतिहास

21.5 पुस्तक-समीक्षा के विविध अंग

21.5.1 पुस्तक का परिचय

21.5.2 विषय-वस्तु की जानकारी

21.5.3 मुख्य समीक्षा

21.5.4 निष्कर्ष

21.5.5 गैट- अप आदि पर टिप्पणी

21.6 पुस्तक- समीक्षा की तैयारी और प्रस्तुति

21.7 पुस्तक- समीक्षा की विशेषताएँ

21.7.1 तटस्थता

21.7.2 वस्तुनिष्ठा

21.7.3 केन्द्र बिन्दु पर ध्यान

21.7.4 प्रासंगिकता

21.7.5 भाषा- शैलीगत विशेषताएँ

21.7.6 सोद्देश्यता

21.7.7 निजता

21.8 पुस्तक - समीक्षा का महत्व

21.9 सफल समीक्षक के गुण

21.9.1 विशेषज्ञता

21.9.2 सामान्य ज्ञान का धनी

21.9.3 तटस्थता

21.9.4 रचनात्मक दृष्टिकोण
21.9.5 वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन
21.9.6 तकनीक का ज्ञान
21.10 सारांश
21.11 शब्दावली
21.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें
21.13 निबन्धात्मक प्रश्न

21.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन करने के पश्चात् आप-

- पुस्तक-समीक्षा के स्वरूप को समझ लेंगे।
- पुस्तक-समीक्षा के विभिन्न प्रकारों और उनके अंतर को समझ जाएंगे।
- पुस्तक-समीक्षा के इतिहास और समीक्षा के विविध अंगों की जानकारी प्राप्त होगी।
- पुस्तक-समीक्षा की तैयारी और प्रस्तुति करने में सहायता मिलेगी।
- पुस्तक-समीक्षा और समीक्षक की विशेषताओं को जान सकेंगे।
- एक सफल पुस्तक-समीक्षक बनने में सहायता मिलेगी।

21.1 प्रस्तावना

पुस्तक-समीक्षा पत्रकारिता और साहित्य का एक महत्वपूर्ण अंग है। आज प्राय: सभी पत्र-पत्रिकाओं, दूरदर्शन और आकाशवाणी पर पुस्तक-समीक्षा देखी जा सख्ती है। पुस्तक-समीक्षा अनेक शीर्षकों से प्रस्तुत की जाती है, जैसे- पुस्तक-समीक्षा, नए प्रकाशन, नया साहित्य, किताबें, समीक्षण पुस्तक, पुस्तकें, साहित्य-परिचय, कसौटी पर आदि। पुस्तक-समीक्षा का कार्य प्रमुख समीक्षक, लेखक, पत्रकार, विषय-विशेषज्ञ, पत्र-पत्रिका अथवा दूरदर्शन-आकाशवाणी के प्रतिनिधि,. नए लोग आदि करते हैं। समीक्षा करते समय ये सभी समीक्षक होते हैं।

कोई समीक्षक अपनी इच्छा से किसी पुस्तक-विशेष की समीक्षा करके पत्र-पत्रिका में प्रकाशित कराए अथवा दूरदर्शन- आकाशवाणी से प्रसारित कराए, ऐसा कम ही हो पाता है। प्राय: पत्र-पत्रिका के संपादक और दूरदर्शन-आकाशवाणी के पुस्तक-समीक्षा प्रवृत्ति के प्रभारी अपने पारा समीक्षार्थ उपलब्ध पुस्तकें अपने हिसाब से समीक्षकों को देकर उनसे समीक्षा कराते हैं।

पुस्तक-समीक्षा और शास्त्रीय ग्रन्थालोचना दोनों अलग विधाएँ हैं। अंग्रेजी में भी इनके लिए पृथक् शब्द 'बुक-रिव्यू तथा 'क्रिटिसिज्म' हैं। पुस्तक-समीक्षा में भी शास्त्रीय आलोचना का सरल और संक्षिप्त पुट हो सकता है, परन्तु दोनों पृथक् विधाएँ हैं। जो व्यक्ति लेखक या पत्रकार बनना चाहता है, उसे पुस्तक-समीक्षा का ज्ञान होना आवश्यक है। तभी वह संपूर्ण और सफल बन सकता है।

21.2 पुस्तक-समीक्षा क्या है ?

समीक्षा का शाब्दिक अर्थ सम्यक् परीक्षा, सम्मति, अन्वेषण आदि है। पुस्तक समीक्षा के अंतर्गत किसी पुस्तक की सम्यक् परीक्षा और विश्लेषण किया जाता है। इससे पाठक (पत्र-पत्रिका में),

श्रोता (आकाशवाणी पर) अथवा दर्शक (दूरदर्शन पर) को पुस्तक-विशेष के बारे में विविध जानकारी प्राप्त होती है। पुस्तक की छानबीन करके समीक्षक पुस्तक के स्वरूप और उसमें निहित सामग्री से अवगत कराता है। एक ओर तो वह पुस्तक के शीर्षक, लेखक का नाम, प्रकाशक का नाम व पता, प्रकाशन वर्ष, मूल्य और पुस्तक के विषय की जानकारी देता है. दूसरी ओर वह पुस्तक की विधागत समीक्षा करता है। दूरदर्शन पर पुस्तक का आवरण भी दिखा दिया जाता है।

आलोचना 'पुस्तक-समीक्षा' से कुछ भिन्न होती है। आलोचना द्वारा किसी के कृतित्व और विचारों का विधिवत् विश्लेषण और मूल्यांकन समग्रत: शास्त्रीय रूप से किया जाता है। रचना-विशेष में निहित तत्व की खोज और उसकी अंर्तवृत्तियां के उद्घाटन की चेष्टा रहती है। आलोचना के तत्व पुस्तक-समीक्षा में भी रहते हैं. परन्तु उनका वह तत्व गहन और शास्त्रीय स्वरूप में नहीं रहता। पुस्तक-समीक्षा में समीक्षक पुस्तक की विषय-वस्तु, शिल्प, विधागत विवेचन, प्रकाशन स्तर की जानकारी देते हुए सम्पूर्ण रूप में पुस्तक का आलोचनात्मक मूल्यांकन करता है। पुस्तक के संबंध में वह अपनी सम्मति भी देता है।

कहानी-संग्रह की समीक्षा करते समय समीक्षक उसमें लिखित कहानियों का परिचय, उनके शीर्षक, संख्या के साथ देगा। कहानियों में क्या है, इसका विश्लेषण करेगा। उपन्यास की समीक्षा करते समय उसका संक्षिप्त कथानक भी देगा। काव्य-संग्रह की समीक्षा करते समय जगह-जगह सटीक काव्यांश भी प्रस्तुत करेगा। विधागत तत्वों के उपयोग की समीक्षा कर सकता है। यदि पुस्तक संपादित है तो उसकी जानकारी देते हुए विभिन्न रचनाकारों (पुस्तक-विशेष के) और उनकी रचनाओं की समीक्षा वस्तुत करेगा। पुस्तक-समीक्षा में ऐसा नहीं होता कि वह मात्र पुस्तक-सारांश ही बनकर रह जाए।

21.3 पुस्तक समीक्षा के प्रकार

पुस्तक-समीक्षा का अर्थ केवल पुस्तक का परिचय या उसकी विषय-वस्तु का सार मात्र नहीं है। उसमें समीक्षक की आलोचनात्मक दृष्टि भी होती है। वह उसमें पुस्तक पर अपना मूल्यांकन भी प्रस्तुत करता है। यह जरूरी नहीं होता कि किसी पुस्तक-समीक्षा में समीक्षा के संपूर्ण तत्व संतुलित रूप में मौजूद ही हों। किसी समीक्षा में किसी तत्व-विशेष पर बल देखा जा सकता है. दूसरी में कोई दूसरा तत्व अधिकता से चर्चित हो सकता है। तत्व-विशेष के आधार पर पुस्तक-समीक्षा के अनेक प्रकार हो सकते हैं-

1. परिचयात्मक 2.विश्लेषणात्मक
3. मूल्यांकनपरक 4. संक्षिप्त या विस्तृत
5. मीडिया के आधार पर

21.3.1 परिचयात्मक पुस्तक-समीक्षा

पुस्तक-समीक्षा की यह सरल और लोकप्रिय पद्धति है। इसमें पुस्तक का परिचय ही मुख्य रूप से दिया जाता है। आलोचना और मूल्यांकन पर अधिक बल नहीं दिया जाता। वैसे संक्षिप्त पुस्तक-परिचय तो सभी प्रकार की पुस्तक-समीक्षाओं में रहता है, परन्तु इस प्रकार की समीक्षा में यही तत्व मुख्यत: होता है। अत: इस प्रकार की समीक्षा को परिचयात्मक पुस्तक-समीक्षा कहते हैं।

21.3.2 विश्लेषणात्मक पुस्तक-समीक्षा

इसमें पुस्तक के संक्षिप्त परिचय के साथ वर्णित विषय, प्रस्तुतीकरण और भाषा-शैली को लेकर विश्लेषण प्रस्तुत किया जाता है। इस प्रकार की समीक्षा द्वारा पुस्तक की विस्तृत जानकारी दी जाती है। समीक्षक इस प्रकार की समीक्षा में पुस्तक की विशेषताओं और उसकी सीमाओं का भी रेखांकन करता है। विश्लेषण करते समय वह अपनी स्वयं की जानकारी का भी उपयोग करता है।

21.3.3 मूल्यांकनपरक पुस्तक-समीक्षा

इस प्रकार की समीक्षा में संक्षिप्त पुस्तक-परिचय एवं संक्षिप्त विश्लेषण के साथ मुख्यत: पुस्तक का मूल्यांकन हो सकता है, परन्तु वहाँ वह मुख्य तत्व के रूप में नहीं होता। मूल्यांकन का अर्थ यह नहीं है कि समीक्षक न्यायाधीश की तरह अपना निर्णय दे दे। मूल्यांकन के अन्तर्गत वह तर्क पूर्ण विवेचन प्रस्तुत करता है।

21.3.4 संक्षिप्त या विस्तृत समीक्षा

पुस्तक-समीक्षा आकार की संक्षिप्त भी हो सकती है और विस्तृत भी। आकार के आधार पर वह संक्षिप्त या विस्तृत पुस्तक समीक्षा कहलाएगी।

21.3.5 मीडिया के आधार पर पुस्तक-समीक्षा

पुस्तक-समीक्षा यदि पत्र-पत्रिका में प्रकाशन हेतु तैयार की जाती है तो वह प्रकाशनार्थ समीक्षा होती है और प्रकाशित हो जाने पर 'प्रकाशित समीक्षा' कहलाती है। दूरदर्शन और आकाशवाणी पर पुस्तक-समीक्षा का प्रसारण किया -जाता है। अत: वह 'प्रसारित समीक्षा' होती है।

21.3.6 कुछ समीक्षाएं

"डॉ बांदिवडेकर की इस पुस्तक को इतिहास की पुस्तक मानकर क्रमबद्ध तथ्यों और आकड़ों की खोजबीन करने वालों को निश्चित रूप से निराश होना पड़ेगा। किन्तु आधुनिक हिन्दी कविता की प्रकृति उसकी विविध प्रवृतियाँ, उसकी नूतन सारणियाँ, भंगिमाएँ, कारणीभूत स्थितियाँ, सीमाएँ. संभावनाएँ आदि से निकट और प्रत्ययकारी परिचय स्थापित करने के लिए यह पुस्तक उपयोगी सिद्ध होगी। इसमें मौलिक चिन्तन के ऐसे अनेक सूत्र हैं जिनसे कविता के मर्म को पहचानने और उसके वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन करने में आधारभूत सहायता मिलती है।

डॉ. रामजी तिवारी द्वारा 'कविता की तलाश'
(चन्द्रकान्त बांदिवडेकर) की समीक्षा का अंश,
'प्रकर', मासिक जनवरी 85, पृ. 18

अब पत्र-पत्रिका में प्रकाशित, दूरदर्शन और आकाशवाणी से प्रसारित कुछ पुस्तक-समीक्षाओं का यहीं उदाहरण दिया जाना सर्वथा उपयुक्त होगा। एक प्रकाशित और मूल्यांकनपक पुस्तक समीक्षा का उदाहरण दृष्टव्य है-

संवेदनाओं के स्वर

कवि : महेशचन्द्र पुरोहित

समीक्षक : डॉ. संतोषकुमार तिवारी

अपने प्रथम काव्य-संकलन में कवि की भावभूमि जिन बिन्दुओं को लेकर चली है उसमें प्रणय-गंध, राष्ट्रीय चेतना और विसंगतियों पर व्यंग्य तीखा स्वर उभरकर सामने आता है। कुछ रचनाओं में अध्यात्म की झलक भी दिखाई देती है।

कवि के रोमान तेवर, यौवन का उन्माद, रूप-रस का माधुर्य और स्मृतियों की कौंध है। कुछ पंक्तियों पर नीरज का प्रभाव स्पष्ट है। प्रणय-पंखों की उड़ान, कुंआरी शरम की कसम, नीरवता का वातायन, सौन्दर्य, कौमार्य, मुखड़े की मासूम पहेली आदि शब्दावली कुछ अंशों को मोहक और प्रभावशाली बना देती है। लेकिन ये रचनाएँ आजकल के माहौल से दूर बहुत देर तक भरमा नहीं सकती। यह कच्ची उभर की बहकती काया का इठलाना-जैसा है।

इस संग्रह में वे रचनाएँ हमें ज्यादा प्रभावित करती हैं जो प्रतीकों के माध्यम से विषमताओं और कुख्यताओं को बेनकाब करती है। उदाहरण के तौर पर-

(1) दस नम्बरी कमरा वह/गगनचुंबी होटल का/दो नम्बरी धुएँ से धुंधला है। सुरा और साकी से/खुद को गरम रखने की सनक/में कमरे की हवाओं ने/पी ली थी रम इतनी/कि खिड़की की रोशनी/कि कै होकर गिरी है।

(2) एक कटघरे में मैं था/और मेरे सामने/दूसरे कटघरे में/मेरी अपनी ही छाया/मेरे ही खिलाफ गवाही देनो मुखबिर बन खड़ी थी।

कवि की रचनात्मक शक्ति, वस्तुस्थिति को व्यंग्य की तेज धार के साथ प्रस्तुत करने में ज्यादा सफल हुई है, जिसमें पांच बरस की काली रातों में सौदागर का चरित्र उजागर हुआ है और 'संवेदनहीन तन्यता' आन्तरिक कुख्यता लेकर व्यक्त हुई है।

कुछ कविताएँ नव निर्माण और श्रम की महत्ता का इजहार करती हैं लेकिन उपदेशपरक और प्रचारात्मक मालूम होती है। कवि को 'गुलमोहर का दुलार' और ' आँखों के लाल डोरे' जैसी रचनाओं में अंतर्निहित सत्य को प्रकट करने में जो सफलता मिली है, वह इन रचनाओं में नहीं।

इस प्रथम काव्य-संकलन को देखकर कहा जा सकता है कि व्यंग्य की जमीन पर अक्खड़ता के साथ चलते हुए इस बात को चरितार्थता दी जा सकती है कि -

मौत की गहराइयों पर पुल बनाती
जिन्दगी सीटी बजाती जा रही।

दूरदर्शन पर प्रसारित एक पुस्तक-समीक्षा अवलोकनीय है. जिसमें विश्लेषणात्मक तथा मूल्यांकनपरक पद्धतियों का मिलाजुला स्वरूप मुखरित हुआ है

आज मेरे सामने समीक्षा के लिए जो पुस्तकें रखी हैं, उनमें पहली पुस्तक 'हिन्दी के शरत - जैनेन्द्र' है। इसके लेखक डॉ. रमेश जैन और प्रकाशक विवेक पब्लिशिंग हाउस, जयपुर हैं। 1988 में प्रकाशित, डिमाई आकार के 280 पृष्ठों वाली इस सीजल्द पुस्तक का मूल्य एक सौ पच्चीस रूपये है।

जैनेन्द्र के कथा-साहित्य, विशेषकर उपन्यासों में स्त्री-पुरुष के रिश्तों को पति-पत्नी, प्रेमी और प्रेमिका के सन्दर्भो में बनते-बिगड़ते मानसिक तनावों के कारण को गहराई से उद्घाटित करने का ऐसा प्रयास है, जो उनकी शैली की पहचान बन गई है। सामाजिक और आर्थिक विषमता के परिवेश में नारी-मन को उन्होंने अपन ढंग और अपनी दृष्टि से समझने की कोशिश की। आरम्भ में वे शरतचन्द्र के नारी-पात्रों

से प्रभावित हुए। इस प्रभाव को जैनेन्द्र ने स्वीकार किया है। शरत की मझली और बडी दीदी उनकी भी दीदी बन गई. जिनके दुःख से जैनेन्द्र के मन में रोना उठता था और जी करता था कि उनके दुःख को गरलपान करने वाले शंकर की भ्रान्ति लील जावें।

शरत की भांति नारी-मन की पीड़ा के प्रति जैनेन्द्र भी सदा संवेदनशील रहे। उनकी अनेक कृतियों में इस पीड़ा को यथार्थ रूप में चित्रित किया गया है। इसीलिए जैनेन्द्र को 'हिन्दी का शरत' कहा जाता है।

समीक्ष्य-कृति एक शोध ग्रन्थ है, जिसमें लेखक ने जैनेन्द्र को तर्कपूर्ण ढंग से हिन्दी का शरत ठहराने का सार्थक प्रयास किया है। आठ भागों में विभक्त इस कृति में शरत और जैनेन्द्र के पूर्व के बंगला-हिन्दी उपन्यासों के उद्भव और विकास पर संक्षिप्त प्रकाश डाला गया है। इन पर दूसरी भाषाओं के साहित्य का प्रभाव भी दर्शाया गया है। पुस्तक में शरत और जैनेन्द्र के परिचय के साथ-साथ तत्कालीन परिवेश को भी प्रस्तुत किया गया है। दोनों रचनाकारों के प्रेरणा स्रोतों और उनकी रचनाधर्मिता को भी उजागर किया गया है। दोनों रचनाकारों के उपन्यासों की प्रवृत्तियों और उनमें व्यक्त विभिन्न समस्याओं पर चर्चा की गई है। उनके औपन्यासिक शिल्प, पात्र-कल्पना एवं चरित्र-चित्रण वाले पक्ष को सशक्तता से उभारा गया है। अन्त में दोनों रचनाकारों की कृतियों की सूची भी दे दी गई है।

लेखक ने जगह-जगह पर अन्य लेखकों तथा आलोचकों के साक्ष्य देकर अपने कथन की पुष्टि की है और पुस्तक को रोचक बनाने का प्रयास किया है। फिर भी साक्ष्यों एवं उद्धरणों का समावेश करने तथा दोनों साहित्यकारों से सम्बद्ध सामग्री को अधिकाधिक समाविष्ट कर देने की भावना के कारण कहीं-कहीं लेखक सम्यक् विवेचन नहीं कर पाया है।

पिछले दिनों दिवंगत हुए साहित्यकार जैनेन्द्र और उनके पूर्ववर्ती महान् रचनाकार शरत के विपुल साहित्य और विचारों का गहन अध्ययन करके उसे तुलनात्मक रूप में प्रस्तुत करना कोई सहज कार्य नहीं है। फिर भी लेखक जैनेन्द्र को 'हिन्दी का शरत' सिद्ध करने के कार्य में काफी सफल हुआ है। स्वयं जैनेन्द्र ने उन्हें हिन्दी का शरत माने जाने पर गौरव का अनुभव किया है।

ग्रन्थ की भाषा सरल. परन्तु गम्भीर है। दोनों साहित्यकारों की कालक्रमानुसार रचना-सूची उपयोगी है। वैसे जैनेन्द्र पर अनेक ग्रन्थ लिखे गए हैं, परन्तु यह रचना अपने आप में उल्लेखनीय स्थान बनाएगी, ऐसा लगता है। '

- समीक्षक डॉ. विष्णु पंकज (दूरदर्शन, जयपुर से
5 मई, 1989 को प्रसारित)

आकाशवाणी से प्रसारित

डॉ. विष्णु पंकज के उपन्यास ' अंधेरा-उजाला' की समीक्षा द्रष्टव्य है-

"पुस्तक है विष्णु पंकज का उपन्यास " अंधेरा-उजाला' '। इसका प्रकाशन विवेक पब्लिशिंग हाउस, जयपुर ने किया है। सौ पृष्ठ की इस पुस्तक का मूल्य बीस रुपये है। यह नायिका-प्रधान उपन्यास है, जो नर-नारी सम्बन्धी में सदियों से चली आई विषमता को ललकारता है। पुरुष प्रधान समाज द्वारा नारी के निरन्तर शोषण को धिक्कारता है तथा दाम्पत्य जीवन की नींव पीत-पत्नी की समता, परस्पर प्रेम और कर्तव्य-परायणता पर रखना चाहता है। इसकी नायिका सारिका भारतीय नारी को पश्चिम के नारी-मुक्ति आन्दोलन से चालित नहीं होने देना चाहती जिसे वह मूलत: प्रतिक्रियात्मक मानती है। एक

नारी संगठन को सम्बोधित करते हुए वह कहती है- आपको स्वतन्त्र होने का अधिकार है, पर आप कर्तव्य से भी बंधी है। अधिकार प्राप्ति के जोश में कर्त्तव्य की आप उपेक्षा नहीं कर सकती। पुरुष के स्वतन्त्र रहने का अधिकार आप नहीं छीन सख्ती। आपको पुरुष के अस्तित्व और व्यक्तित्व को कुचलने या मिटाने का अधिकार नहीं है। आपको विध्वंस की भावना त्याग कर समाज का नव-निर्माण करना है। आक्रोश एक क्षणिक स्थिति है, एक लहर है। इस भावना को आप स्थाई नहीं रख सख्ती। स्त्री और पुरुष एक-दूसरे के लिए अपरिहार्य हैं। उनमें मृणा फैलाना ठीक न होगा। प्रतिशोध की भावना छोड़नी ही होगी। उसकी हत्या के प्रयास में पति पर चल रहे मुक्दमे के दौरान अदालत में दिए गए अपने बयान में वह बताती है- मैं ' नारी को केवल बराबरी का दर्जा दिलाना चाहती थी। मैं यह नहीं चाहती थी कि नारी पुरुष पर हावी रहे, उनमें परस्पर प्रतिद्व्द्विता रहे। मैं यह भी नहीं चाहती थी कि नारी एकदम स्वच्छंद हो जाए। पर मैं नारी और पुरुष को बराबर लाकर, उनमें अधिक आस्था, प्रेम और सहयोग की भावना बढा, नए सुखी और समृद्ध समाज के निर्माण का स्वप्न देखा करती थी। इन्हीं विचारों के कारण अपने पति से मेरा मतभेद रहा।

सारिका का पति परिवेश व्यवसाय से पत्रकार होते हुए भी रुढ़िवादी था। उसे अपनी पत्नी का परम्परागत रूप ही स्वीकार्य था। यह उसे थोड़ी-सी छूट भी देने को तैयार नहीं था। इसलिए उसने सारिका को घर छोड़ने के लिए मजबूर कर दिया और उसके चले जाने पर एक मित्र की मदद से अपने कार्यालय की एक मासूम लड़की यामिनी को अपने जाल में कर लिया। पहला पत्नी के जीवित होते हुए भी वह यामिनी से विवाह कर नए सुख सपने बुनने लगा। पर शीघ्र ही यामिनी से भी उसका मन भर गया। इस बीच अपने पत्र के मुख्य संपादक से उसे नारी मुक्ति संघ द्वारा एक सम्मेलन में जाकर उसकी रिपोर्ट भेजने और उसकी प्रख्यात अध्यक्षा मुक्ता जी से इन्टरव्यू लेने बम्बई जाने का आदेश मिला। न चाहते हुए भी उसे वहीं जाना पड़ा। पंडाल में पहुँचते ही उसके पांव तले से जमीन निकल गई जब उसने देखा कि नारी मुक्ति आन्दोलन की प्रखर अध्यक्षा और कोई नहीं उसकी पहली पत्नी सारिका ही है। मजबूरन उसे अपने एक साथी की सहायता से सारिका उर्फ मुक्ता जी का इन्टरव्यू भी लेना पडा। पर भीतर ही भीतर वह उसकी ख्याति से जल उठा।

दिल्ली लौटकर उसने अपना तबादला चंडीगढ करा लिया और यह जानते हुए भी कि यामिनी गर्भवती है उसे वहीं छोडं कर स्वयं चंडीगढ़ चला गया। वहाँ भी उसने प्रगति नाम की एक युवती से छेड़छाड़ की, पर वह दबंग लड़की थी। उससे परिवेश को मात खानी पड़ी.। इधर सारिका भी परिवेश पर निगाह रखे हुए थी। उसने पत्र के मुख्य संपादक से शिकायत कर, परिवेश का तबादला फिर दिल्ली करा दिया और उसे पत्र लिख कर चेतावनी भी दे दी। यह सब परिवेश की बर्दाश्त से बाहर था। उसने गुंडों की मदद से सारिका की, हत्या की चेष्टा की। जब वह किसी बैठक से भाषण देकर लौट रही थी तब उस पर गोली चलाई गई, पर वह मरने से बच गई। गोली उसके बाजू में ही लगी। हत्यारे पकड़ गए और सारा षडयंत्र खुल गया। परिवेश को जेल की हवा खानी पड़ी। सारिका ने अदालत में ऐसा बयान दिया कि गुंडों को तो सजा हो गई, पर परिवेश छूट गया। तब उसकी आंखें खुलीं और वह अंधेरे से उजाले में आ गया। इस हृदय परिवर्तन के बाद वह सारिका के नारी-मुक्ति आन्दोलन में पूरे मनोयोग से जुट गया. पर सारिका ने उसे कभी सहयोगी से अधिक का दर्जा नहीं दिया। आन्दोलन सम्बन्धी व्यस्तता में एक दिन सारिका को दिल का जबरदस्त दौरा पड़ा और वह एक वसीयत के द्वारा सारा कार्यभार अपने सहयोगियों पर छोड़कर चल बसी।

इस प्रकार यह उपन्यास नारी-मुक्ति के संघर्ष को सही परिप्रेक्ष्य में रखने का प्रयास करता है। सारिका उर्फ मुक्ता अपने उक्त इन्टरव्यू के. दौरान कहती है, 'यदि पुरुष स्वयं स्वतंत्र रहना चाहता है तो उसे भी नारी को बंधन में रखने का अधिकार नहीं है। ये दोनों अग्रगामी या अनुगामी न बनकर सहयोगी बने। एक-दूसरे का सम्मान करें। एक तरफ तो आप कहते हैं कि स्त्री और पुरूष समाज रूपी गाड़ी के दो पहिए हैं। दूसरी तरफ आपने इन पहियों को छोटाकर बडा बना रखा है। तब गाड़ी ठीक प्रकार से कैसे चलेगी?' यद्यपि यह उपन्यास इस नाजुक विषय पर संतुलित चिन्तन प्रस्तुत करता है, पर किसी कलाकृति में इतना ही पर्याप्त नहीं होता। उपन्यास के रूप में यह कृति सशक्त नहीं बन पाई है। सारिका के पत्रों, संवादों और भाषणों में जीवनानुभव की उष्णता कम और बौद्धिक प्रखरता अधिक झलक्ती हैं।

समीक्षक : डॉ. रणवीर रांग्रा
आकाशवाणी क्ले. दिल्ली से
2 अप्रैल, 1995 को प्रसारित

बोध प्रश्न- 1

1. पुस्तक-समीक्षा से आप क्या समझते हैं?
2. पुस्तक-समीक्षा कितने प्रकार की होती है?
3. विश्लेषणात्मक और मूल्यांकनपरक पुस्तक समीक्षा में अन्तर बताइए
4. पुस्तक समीक्षा के लिए आप किस प्रकार की पुस्तकों का चयन करेगे।

21.4 पुस्तक- समीक्षा का इतिहास

वैसे तो भारत में आलोचना (साहित्यालोचना ग्रन्थालोचना) प्राचीन काल से ही प्रचलित है। पहले टीका और अन्य नामों से ग्रन्थालोचना होती थी। परन्तु आधुनिक सन्दर्भ में 'पुस्तक-समीक्षा' उन्नीसवीं सदी की देन है. जिसका विकास बीसवीं सदी में हुआ है। पाश्चात्य पत्र-पत्रिकाओं में भी उन्नीसवीं शताब्दी में ही 'बुक रिव्यू (पुस्तक-समीक्षा) का प्रचलन हो गया था।

भारत में आधुनिक हिन्दी पुस्तक-समीक्षा का श्रेय 'सरस्वती' पत्रिका को दिया जाता है। जिसने आरंभ से ही 'पुस्तक समीक्षा' को पत्रिका में स्थान दिया। वैसे 'सरस्वती' से ही 'पुस्तक-समीक्षा' भी पुस्तक समीक्षाएँ निकली हैं। परन्तु वह इस विधा का प्रारम्भिक दौर था। 'सरस्वती' ने विधिवत् इस विधा को विकसित किया। इसके साथ ही अन्य पत्र-पत्रिकाओं ने भी पुस्तक-समीक्षा को स्थान दिया। पुस्तक-समीक्षा विधा को ही लेकर कई पत्रिकाएँ निकल पड़ी, जिनमें सिर्फ पुस्तक-समीक्षा को ही मुख्य स्थान दिया गया। इनमें प्रकार, समीक्षा, आलोचना के नाम सर्वोपरि है। बडे ही नहीं, मध्यम और लघु पत्र-पत्रिकाओं ने भी इस विधा को अपनाया है। दूरदर्शन और आकाशवाणी से भी पुस्तक-समीक्षाएं प्रसारित होती हैं। सभी देशों में और सभी भाषाओं में इसका प्रचलन है।

21.5 पुस्तक-समीक्षा के विविध अंग

पुस्तक समीक्षा के विविध अंगों का परिचय निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत है-

1. पुस्तक समीक्षा
2. विषय वस्तु
3. समीक्षा
4. निष्कर्ष

5. गैट-अप

21.5.1 पुस्तक का परिचय

इसके अन्तर्गत पुस्तक का नाम. लेखक का नाम, पुस्तक की विधा का उल्लेख, प्रकाशक का नाम-पता, प्रकाशन वर्ष, पृष्ठ संख्या और मूल्य आदि की जानकारी दी जाती है। यह वस्तुत: पुस्तक के विषय मे आरम्भिक जानकारी मात्र होती है।

21.5.2 विषय वस्तु

पुस्तक का विषय क्या है? इसकी संक्षिप्त चर्चा समीक्षा के शुरू में की जाती है। यदि पुस्तक उपन्यास है तो उसके संक्षिप्त कथानक को प्रस्तुत किया जा सकता है। यदि पुस्तक कहानी-संग्रह है तो उसमें कितनी और कौन-कौन सी कहानियाँ हैं? उनका विषय- क्षेत्र या घटना क्षेत्र क्या है? यदि पुस्तक पूर्ण नाटक है तो उसका विषय- क्षेत्र क्या है? यदि एकांकी-संग्रह है तो कौन-कौन और कितने एकांकी हैं? उनके विषय- क्षेत्र क्या हैं? यदि पुस्तक आलोचना से सम्बद्ध है तो किसकी और किस प्रकार की आलोचना है। यदि पुस्तक अन्य विषय या विधा से सम्बद्ध है तो उसका स्वरूप-परिचय इसके अन्तर्गत प्रस्तुत किया जाता है।

21.5.3 समीक्षा

इसके बाद मुख्य समीक्षा प्रस्तुत की जाती है। समीक्षा करते समय आलोचना शास्त्र की भी सहायता ली जा सख्ती है। पुस्तक के गुण-दोष का सविस्तार विवेचन किया जाता है।

21.5.4 निष्कर्ष

समीक्षा के उपरान्त निष्कर्ष निकाले जाते हैं। 'पुस्तक किशोरों-बालकों के लिए मनोरंजक ही नहीं, ज्ञानववर्द्धक भी है। या 'पुस्तक बुद्धिजीवियों और सामान्य पाठको सभी के लिए पठनीय है। जैसी निष्कर्षात्मक उत्तियॉ प्रस्तुत की जाती हैं। समीक्षक यहीं कोई सुझावात्मक टिप्पणी भी कर सकता है- 'यदि पुस्तक में सम्बद्ध चित्रों का समावेश कर दिया जाता तो उसका महत्व बढ जाता' अथवा 'पुस्तक में अनेक चित्र देकर उसका महत्व बढा दिया गया है। ' अथवा 'चित्रों के समावेश से उसकी सजीवता बढ गई है। '

21.5.4 गैटअप

अन्त में पुस्तक के गैटअप आवरण, छपाई, प्रूफ सम्बन्धी विशेषता या त्रुटियाँ. भाषागत टिप्पणी, पुस्तक का महत्व आदि पर संक्षेप में टिप्पणी की जाती है।

बोध प्रश्न- 2

1. आप पुस्तक समीक्षा की तैयारी किस प्रकार करेगे?
2. पुस्तक- समीक्षा की प्रमुख विशेषताएँ बताइए?
3. 'आकाशवाणी पर पुस्तक-समीक्षा' पर अपने विचार लिखिए।
4. आप जिस पुस्तक से प्रभावित हुए है, उसकी समीक्षा कीजिए।

5. दूरदर्शन के लिए एक पुस्तक समीक्षा लिखित।

21.6 पुस्तक-समीक्षा की तैयारी और प्रस्तुति

पुस्तक-समीक्षा करने के लिए उसके लेखक की तैयारी करनी होती है। जिस पुस्तक की समीक्षा करनी होती है सबसे पहले उसका अध्ययन किया जाता है। एक सामान्य पाठक और समीक्षक के पुस्तक-अध्ययन में अन्तर होता है। सामान्य पाठक जानकारी या मनोरंजन के लिए पुस्तक को पढता चला जाता है, जबकि समीक्षक. पुस्तक-समीक्षक पुस्तक पढते समय निरीक्षणात्मक दृष्टिकोण अपनाता है। वह पुस्तक के विषय में विशिष्ट बातें रेखांकित करता रहता है। पुस्तक के विषय में संक्षिप्त जानकारी, कथानक सार, विशेषताएँ, कमियाँ, उद्धरण, विशेष अंश आदि को वह नोट कर लेता है और बाद में अपनी टिप्पणियों उसमें जोडता है। वह पुस्तक की प्रासंगिकता की जांच करता है। भाषा-शैली. चित्र, प्रूफ की अशुद्धियों, छपाई, आवरण आदि पर भी ध्यान देता है। अपेक्षित होने पर तुलनात्मक दृष्टि से अन्य पुस्तकों को भी देखता है।

वह एक बार पूरी समीक्षा लिख लेता है। बाद में उसे पढकर संशोधन, परिवर्द्धन आदि करता है। तब उसे दुबारा प्रेस-कापी के रूप में तैयार कर लेता है। यदि समीक्षा दूरदर्शन पर की जाती है तो उसकी तैयारी उसी के अनुरूप की जाती है। पुस्तक की संक्षिप्त जानकारी, विशेषता, कमियाँ, विशेष अंश, स्वयं की टिप्पणी वह बिन्दु-रूप में लिखकर अपने पास रख लेता है। पुस्तक को सामने रखकर वह अपना समीक्षात्मक व्यक्तव्य प्रस्तुत करता है। बीच-बीच में वह पुस्तक का आवरण, चित्र आदि की दिखाता जाता है।

21.7 पुस्तक-समीक्षा की विशेषताएँ

एक अच्छी और सफल पुस्तक-समीक्षा में निम्नांक्ति विशेषताओं का होना अपेक्षित है. -

1 तटस्थता 2. वस्तुनिष्ठता

3. केंद्र बिन्दु 4. प्रासंगिकता

5. भाषा- शैली 6. सोद्देश्यता

7. निजता

21.7.1 तटस्थता- एक अच्छी पुस्तक समीक्षा में तटस्थता का होना आवश्यक है। उस पर समीक्षक की विशेष विचार धारा एवं पूर्वग्रह का प्रभाव नहीं होना चाहिए।

21.7.2 वस्तुनिष्ठता- पुस्तक-समीक्षा में वस्तुनिष्ठता ही होना आवश्यक है। समीक्षा का केंद्र-बिन्दु पुस्तक को होनी चाहिए। ऐसा न हो कि समीक्षक आलोचना शास्त्र, तर्कजाल, स्व-विद्वता, लेखक की निन्दा-स्तुति आदि के बियावान में भटक कर रह जाए।

21.7.3 केन्द्र-बिन्दु- समीक्षक पुस्तक के केन्द्र-बिन्दु पर ध्यान रखे। उसे इस केन्द्र-बिन्दु से बहुत दूर नहीं चले जाना चाहिए। केन्द्र-बिन्दु को उभारने का लगातार प्रयास उसे करना चाहिए।

21.7.4 प्रासंगिकता- समीक्षा का प्रासंगिक होना वांछित है। बहुत पुरानी किताबों की समीक्षा प्राय: नहीं करनी चाहिए नई किताब की समीक्षा भी यदि देर से प्रकाशित या प्रसारित होती है तो पाठकों की उसमें अपेक्षित रुचि नहीं रहती।

21.7.5 भाषा-शैलीगत- पुस्तक-समीक्षा सरल, परन्तु स्तरीय भाषा-शैली में प्रस्तुत की जानी चाहिए। सामान्य पाठक, श्रोता, दर्शक उसे सहज ही समझ सके, इस बात का ध्यान रखा जाना चाहिए।

21.7.6 सोद्देश्यता- पुस्तक-समीक्षा में सोद्देश्यता का होना अपेक्षित है। पुस्तक- समीक्षा के प्रभाव में आकर ही कोई उस पुस्तक को पढ़ने या न पढ़ने की सोचता है। अत: समीक्षा में सोद्देश्यता का गुण होना चाहिए।

21.7.7 निजता- हर समीक्षक की लेखन-शैली, समीक्षा-पद्धति, दृष्टिकोण, विश्लेषण का तरीका भिन्न होता है। यही समीक्षक की अपनी निजता होती है। नए समीक्षक को अपने आप में इस गुण को विकसित करना चाहिए।

आकाशवाणी पर नियमित रूप से पुस्तक-समीक्षाएँ प्रसारित होती हैं। डॉ. मधुकर गंगाधर कई दशक तक आकाशवाणी से जुड़े रहे हैं। उन्होंने अपनी पुस्तक 'रेडियो लेखन' में पुस्तक-समीक्षा पर अच्छा प्रकाश डाला है। इस सम्बन्ध में वे लिखते हैं-

"पुस्तक-समीक्षा का कार्यक्रम रेडियो पर कई रूपों में प्रसारित होता है। कहीं-कहीं तो वस्तुत: पुस्तक की समीक्षा की जाती है और कहीं सिर्फ परिचय उपस्थित किया जाता हूँ। कहीं ऐसा भी होता है कि पुस्तक की प्रशंसा और स्तुति मात्र की जाती है। यह भेद वस्तुत: रेडियो के अधिकारियों की योग्यता, निपुणता एवं सुरुचि पर निर्भर करता है। अगर एक दृष्टिवान प्रोड्यूसर पुस्तक-समीक्षा का कार्यक्रम प्रस्तुत करता है तो वह चाहेगा कि अगर यह समीक्षा साहित्यिक कार्यक्रम के अन्तर्गत है तो उस समीक्षक को समकालीन लिखी जा रही समीक्षा के स्तर का तो होना ही चाहिए। अगर समीक्षा किसी दूसरे कार्यक्रम में, जैसे ग्रामीण कार्यक्रम या बच्चों के कार्यक्रम में, प्रसारित होने को है, तो निश्चित तौर पर उसका स्तर भिन्न होता है। लेकिन, स्तर चाहे प्रौढों के योग्य हो या बच्चों के, कुछ मूल सिद्धान्त हैं, जिन पर निर्णय आवश्यक होता है। मसलन, रेडियो से समीक्षा प्रसारित करते समय अगर पुस्तक में त्रुटि है तो उसकी त्रुटियों को दिखलाते हुए लेखकों की कटु आलोचना की जा सख्ती है या नहीं। कुछ प्रोड्यूसर पुस्तक-समीक्षा 'बहुजन हिताय' के नाम पर रेडियो को सही बात से भी 'कटुता उत्पन्न होने की आशंका से ग्रस्त' समझने लगते हैं। हम ऐसे लोगों के बारे में अधिक बातें नहीं करना चाहेंगे, जो अज्ञ हैं और जिनकी बदौलत आल इण्डिया रेडियो अपनी संपूर्णता के साथ जनता के बीच उपस्थित नहीं हो सकता है। यह सही है कि रेडियो की कुछ सीमाएँ हैं, किन्तु वे सीमाएँ ऐसी नहीं हैं जिनके चलते समीक्षा वन्दना में परिणत हो जाए। '

'रेडियो-समीक्षा की एक बड़ी सीमा है- समीक्षक का चुनाव। सरकारी विभाग होने के कारण रेडियो का अनुबंध राशन-कार्ड हो गया है। जैसे विश्वविद्यालय के अध्यक्ष. प्रसिद्ध संपादक, बूढ़े और पुराने साहित्यकार समीक्षक की कोटि में होंगे ही, चाहे उनकी समीक्षा दो कौड़ी की भी नहीं होती हो। एक रेडियो क्षेत्र में अगर कई विश्वविद्यालय हैं तो एक विश्वविद्यालय के अध्यक्ष को बुलाने के बाद खानापूरी के तौर पर दूसरे विश्वविद्यालय के अध्यक्ष को बुलाने की तथाकथित नैतिकता उपस्थित होती है। कई महीनों अथवा वर्ष तक अगर किसी समीक्षक को नहीं बुलाया जाए, क्योंकि समीक्षा का कार्यक्रम प्राय: बहुत कम होता है और हिन्दी में समीक्षक कहलाने वाले जीव कम नहीं होते हैं तो समीक्षक महोदय आक्रोश जाहिर करते हुए पत्र लिखेंगे। कोई सरकारी नौकर कंधे पर शिकायत लेकर घूमना पसन्द नहीं करता है, इसलिए खानापूरी के तौर पर जैसे राशन-कार्ड पर प्रत्येक यूनिट पर निरात राशन कुछ छटांक

हपतेवार ढंग से दिया जाता है, उसी ढर्रे पर ज्ञात- अज्ञात, छोटे-बडे. समोक्षको के बीच समीक्षा का कार्यक्रम बांट दिया जाता है। इससे श्रेष्ठ समीक्षक तो उपेक्षित होते ही हैं. रेडियो- समीक्षा का स्तर भी गिर जाता है। लेकिन यह तो अव्यवस्था की बात हुई और इसके व्यवस्था के बाहर के लेखक जिम्मेदार नहीं हैं।

समीक्षा का मूल उद्देश्य किसी ग्रंथ विशेष के गुण दोषों का विवेचन करना होता है यानी आम पाठक वर्ग के लिए दृष्टिवान आलोचक ग्रंथ का अवगाहन कर गुण-दोषों से परिचित कराते हैं। अगर समीक्षक ईमानदारी से पुस्तक की विवेचना प्रस्तुत करता है तो आम पाठक के लिए बहुत बडी समस्या का हल हो जाता है। इससे न केवल जन-साधारण की रुचियाँ परिष्कृत होती हैं, बल्कि हजारों-हजार छप रही पुस्तकों के बीच अच्छी पुस्तकों के चुनाव में गंवाए जाने वाले समय की भी बचत होती है। वैसे तर्क के नाम पर यह कहा जा सकता है कि समीक्षक अपनी दृष्टि से पाठकों तको आलोकित कर उसकी मूल दृष्टि को विभ्रान्त करता है। '

"अच्छी समीक्षा परिचयात्मक ही होती है यानि व गुणदोषो से ही परिचय करती - है और उसकी सीमा, मूल्य से लेकर छपाईविषय तक है। -विषय वण्य- सफाई और वण्य- इसलिये यह और भी अच्छा होता है। समीक्षक अधिक कारगर ढंग से अधिक सावधानी से बाते करे। लिखित समीक्षा में इस बात की गुंजाइश रहती है की पाठक नहीं सुलझने वाली बात को बार बार पढ़कर समझे।-रेडियो की समीक्षा वाचक समीक्षा है। जिसमे दुबारा सुनने की गुंजाइश नहीं रहती है। इसलिये समीक्षक को इस बात का ध्यान रखना चाहिए की वे ऐसे शब्दों और वाक्यो का प्रयोग कर तो एक बार सुनने पर समझ में आ जाएँ।

लिखित समीक्षा में उद्धरण दिया जाता है तथा समीक्षित ग्रन्थ के पृष्ठों का उल्लेख किया जाता है। जैसे कोई समीक्षक अगर किसी पुस्तक की समीक्षा करते हुए ऐसा लिखना चाहता है कि अमुक लेखक ने कई जगह व्याकरण की भूलें की हैं जैसे पृष्ठ संख्या 7 की पंक्ति संख्या छह। लेकिन, रेडियो पर प्रसारित समीक्षा में ऐसे कहने की गुंजाइश नहीं है। वहाँ तो समीक्षक को गृह और वाक्य संख्या देने के बदले पूरा-का-पूरा वाक्य उद्धृत कर देना पडेगा. क्योंकि श्रोता के सामने पुस्तक नहीं होगी। उसी तरह पांद टिप्पणी की भी गुंजाइश नहीं होती है, यानी समीक्षक को जो भी कहना है, वह पूरी तरह कह डाले। डॉ. मधुकर गंगाधर का कथन है- रेडियो की समीक्षा को भी लिखित समीक्षा और प्रचलित समीक्षा के स्तर. तक का बनाया जा सकता है। ऐसा' मैं इसलिए भी कह रहा हूँ कि आज हिन्दी में जो विश्वविद्यालयीय समीक्षा है, वह निष्प्राण है और या तो अहं- आरोपित समीक्षकों के मन का भ्रम है या किसी अज्ञानी की तोता-रटंत उद्घोषणाएँ। विश्वविद्यालय के बाहर की समीक्षा खेमों में बंटी हुई है, जहाँ दल, जाति, संप्रदाय और राजनीतिक पार्टी ज्यादा हावी है। यह रोग इस कदर फैल चुका है कि दोनों ही वर्गो की प्रचलित समीक्षा आदर्श नहीं है और तू-तू मैं-मैं और थुक्कम-फजीहत का पर्याय बन गई है। निश्चित रूप से सरकारी विभाग होने के कारण आल इण्डिया रेडियो ऐसी समीक्षा को प्रसारित नहीं करता है। मेरे कहने का मतलब यह नहीं है कि आल इण्डिया रेडियो से जो समीक्षाएँ प्रसारित होती हैं, वे त्रुटिपूर्ण नहीं हैं और आदर्श हैं। मेरे कहने का अर्थ सिर्फ इतना है कि भय और अज्ञान से कुछ संयोजकों अथवा अधिकारियों ने रेडियो-समीक्षा को दयनीय बना रखा है। इसमें गुंजाइश है कि जान डाली जाए और एक सहज समीक्षक की वाणी मुखरित की जा सके।

एक अच्छी समीक्षा के लिए आवश्यक है कि समीक्षक पुस्तक को अच्छी तरह पढ़े और

उसके लेखक के अच्छी तरह जान ले। साथ ही समीक्षक को समकालीन रचनाशीलता से परिचित होना आवश्यक है। अब समीक्षक का काम है कि ग्रन्थ में जो भी श्रेष्ठ हैउसे आलो :कित करे और जो हीन है उसे सामने लाए। संपूर्ण रचनाशीलता के संबंध में ग्रंथ का मूल्यांकन उपस्थित करे और इस तरह उपस्थित करे कि श्रोता उसे अच्छी तरह समझ सके। पूरी पुस्तक की रूपरेखा अगर पूरे गुणदोषों के साथ श्रोता के मन पर उतर जाती है तो समीक्षक सफ-ल है अन्यथा असफल।

21.8 पुस्तक-समीक्षा का महत्व

पुस्तक-समीक्षा पाठकों और पुस्तकों के बीच सेतु का काम करती है, अत: उसका बहुत महत्व है। जागरूक पाठक अच्छी पुस्तकों की तलाश में रहते हैं। पुस्तक-समीक्षा उनकी इस समस्या को हल कर देती है। गुण-दोष के आधार पर वह पुस्तकों की जानकारी पाठकों तक पहुँचाती है। इससे पाठकों को सही पुस्तकों के चुनाव में मदद मिलती है। लेखक और उसकी कृति के विषय में उसकी समझ बढ़ी है। व्यस्त रहते हुए भी उसका सम्पर्क पुस्तक-जगत में बना रहता है।

21.9 सफल समीक्षक के गुण

एक सफल पुस्तक-समीक्षक बनने के लिए उसमें कतिपय गुणों या विशेषताओं का होना अच्छा होता है। निम्नलिखित गुणों को निरन्तर अध्ययन, अभ्यास, निरीक्षण, विचार-विमर्श आदि द्वारा विकसित किया जा सकता है : -

1. विशेषज्ञता
2. सामान्य ज्ञान संपन्नता
3. तटस्थता
4. रचनात्मक दृष्टिकोण
5. वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन
6. तकनीक का ज्ञान

21.9.1 विशेषज्ञता

कथा-साहित्य की समीक्षा करने वाला इस क्षेत्र का विशेषज्ञ होगा तभी वह भली-भांति समीक्षा कर सकेगा। खेलों का विशेषज्ञ ही खेल-साहित्य की अच्छी समीक्षा कर पाएगा। परन्तु यह भी संभव नहीं है कि हर व्यक्ति सभी विषयों का विशेषज्ञ हो। इसीलिए आजकल एक ही समीक्षक से सब विषयों की पुस्तकों की समीक्षा न कराकर विषय-विशेषज्ञों से उनकी समीक्षा कराई जाती है। यदि कोई समीक्षक सभी विषयों का विशेषज्ञ भले ही न हो, परन्तु उसे विभिन्न क्षेत्रों की अच्छी जानकारी तो होनी ही चाहिए। वह जिस विषय की पुस्तक की समीक्षा कर रहा है, कम से कम उस क्षेत्र की तो विशेष जानकारी, विशेषज्ञता उसमें होनी चाहिए तभी वह सफल समीक्षा कर सकेगा।

21.9.2 सामान्य ज्ञान सम्पन्नता

पुस्तक-समीक्षक का सामान्य ज्ञान बहुत बढ़ा-चढा होना चाहिए। अच्छे सामान्य ज्ञान से पूर्ण व्यक्ति सहज ही सफल पुस्तक समीक्षक बन सकता है।

21.9.3 तटस्थता

पुस्तक-समीक्षक का तटस्थ (निष्पक्ष) पूर्वाग्रहों से मुक्त होना वांछित है। उसकी विचार धारा सोच कुछ भी हो, चाहे लेखक से उसके विचार न भी मिलते हों, फिर भी उसे निष्पक्ष समीक्षा करनी चाहिए। उसे अपने राग-द्वेष का समावेश समीक्षा में नहीं करना चाहिए।

21.9.4 रचनात्मक दृष्टिकोण

एक सफल पुस्तक-समीक्षक का दृष्टिकोण रचनात्मक होना चाहिए। देश, समाज, साहित्य, संस्कृति आदि के हित का उसका दृष्टिकोण होना अपेक्षित है। साथ ही वैचारिक संकीर्णताओं से उसका मुक्त होना भी आवश्यक है। सामाजिक दायित्व का बोध उसे होना चाहिए।

21.9.5 वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन

समीक्षक को चाहिए कि वह पुस्तक की वस्तुनिष्ठ समीक्षा करे, मात्र लेखक का परिचयात्मक मूल्यांकन न करे। उसे यह ध्यान रखना चाहिए कि उसे पुस्तक की समीक्षा करनी है।

21.9.6 तकनीक का ज्ञान

पत्र-पत्रिका. दूरदर्शन, आकाशवाणी, इण्टरनेट आदि पर की जाने वाली पुस्तक-समीक्षा में जो तकनीक अन्तर और विशेषताएँ हैं उनका समीक्षक को ज्ञान होना चाहिए।

21.10 सारांश

पुस्तक-समीक्षा पत्रकारिता और साहित्य का एक अपरिहार्य अंग है। नए पत्रकारों लेखकों को उसका ज्ञान होना आवश्यक है। वैसे तो साहित्यालोचना पुस्तकों की टीका का इतिहास आरम्भ उन्नीसवीं शताब्दी में हुआ और यह विधा बीसवीं शताब्दी में पूर्ण विकसित हो गई। पुस्तक- समीक्षा मुख्यत: परिचालक विश्लेषणात्मक तथा मूल्यांकनपरक होती है। आकार के आधार पर यह छोटी या बडी हो सकती है। मीडिया के आधार पर यह पत्र. पत्रिका दूरदर्शन और आकाशवाणी के लिए होती है।

पुस्तक- समीक्षा के अन्तर्गत पुस्तक का संक्षिप्त परिचय अनिवार्य तौर पर दिया जाता है। समीक्षा के साथ उसकी छपाई आवरण प्रूफ-स्थिति आदि पर विचार प्रकट किए जाते हैं। पुस्तक- समीक्षा के लिए विधिवत् तैयारी करके लेखन किया जाता है। आरम्भ में पुस्तक को पढ़कर उस पर नोट्स तैयार करने होते हैं। पुस्तक- समीक्षा में निष्पक्षता' वस्तुनिष्ठता में बिन्दु: प्रासंगिकता भाषा-शैलीगत विशेषताओं सोद्देश्यता और निजता पर ध्यान रखना अपेक्षित होता है इसके लिए समीक्षक को तकनीकी ज्ञान होना चाहिए। उसका सामान्य ज्ञान ऊँचा हो उसका दृष्टिकोण रचनात्मक हो तथा उसे वस्तुनिठ मूल्यांकन करना चाहिए।

21.11 शब्दावली

पुस्तक समीक्षा- पुस्तक का परिचय देते हुए संक्षिप्त आलोचना करके उसकी छपाई, आवरण, प्रूफ-शुद्धि आदि पर भी विचार प्रकट करना।

पुस्तके-समीक्षक- पुस्तक की समीक्षा करने वाला।

मीडिया- संचार माध्यम। ये दो प्रकार के होते हैं- (i) प्रिण्ट मीडिया (पत्र-पत्रिकाएं),। (ii)। इलाक्ट्राय मीडिया (दूरदर्शन-आकाशवाणी)। आकाशवाणी ' आडियो मीडिया' तथा दूरदर्शन' आडियो-विजुअल मीडिया' के अन्तर्गत आता है। ये दोनों इलाक्ट्राय मीडिया के अन्तर्गत हैं।

विश्लेषणात्म- पुस्तक के विश्लेषण से सम्बद्ध।

मूल्यांकनपरक- पुस्तक के मूल्यांकन से सम्बद्ध।

21.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें .

- रेडियो-लेखन (डी. मधुकर गंगाधर)
- हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास (नागरी प्रभारिणी सभा)
- समीक्षा, प्रकार, आलोचना आदि की फाइलें।

21.13 निबन्धात्मक प्रश्न

1. पुस्तक-समीक्षा से आप क्या समझते हैं?
2. पुस्तक-समीक्षा कितने प्रकार की होती है? व्याख्या कीजिए।
3. विश्लेषणात्मक और मूल्यांकनपरक पुस्तक-समीक्षा में अन्तर बताइए।
4. अपनी पढ़ी हुई किसी पुस्तक की परिचयात्मक समीक्षा लिखिए।

NOTES

NOTES

NOTES

विश्वविद्यालय द्वारा संचालित पाठ्यक्रमों की सूची

	पाठ्यक्रम का नाम	अवधि
1.	स्नातक उपाधि प्रारम्भिक पाठ्यक्रम	6 माह
2.	भोजन एवं पोषण में सर्टिफिकेट	6 माह
3.	कम्प्यूटर ज्ञान एवं प्रशिक्षण का प्रारम्भिक पाठ्यक्रम	6 माह
4.	सर्टिफिकेट इन कम्प्यूटिंग	6 माह
5.	पंचायती राज प्रोजेक्ट में प्रमाण-पत्र	6 माह
6.	संस्कृति एवं पर्यटन में प्रमाण-पत्र	6 माह
7.	महिलाओं में वैद्यानिक बोध में प्रमाण-पत्र	6 माह
8.	राजस्थानी भाषा एवं संस्कृति में प्रमाण-पत्र	6 माह
9.	बी.ए.एफ./बी.सी.एफ. (त्रिवर्षीय पाठ्यक्रम)	1 वर्ष
10.	एम.ए.(अर्थशास्त्र, राजनीति विज्ञान, इतिहास, हिन्दी)	2 वर्ष
11.	एम.बी.ए.	3 वर्ष
12.	पी.जी.डी.एच.आर.एम.	1 वर्ष
13.	पी.जी.डी.एफ.एम.	1 वर्ष
14.	पी.जी.डी.एम.एम.	1 वर्ष
15.	पी.जी.डी.एल.एल.	1 वर्ष
16.	टी.एच.एम.	1 वर्ष
17.	डी.एन.एच.ई.	1 वर्ष
18.	डी.सी.ओ.	1 वर्ष
19.	डी.एल.एस.	1 वर्ष
20.	डी.सी.सी.टी.	18 माह
21.	बी.जे.(एम.सी.)	1 वर्ष
22.	एम.जे.(एम.सी.)	2 वर्ष
23.	बी.लिब.	1 वर्ष
24.	पर्यावरण विज्ञान में स्नातकोत्तर डिप्लोमा	1 वर्ष
25.	बी.एड.	2 वर्ष
26.	पी.एच.डी.	3 वर्ष
27.	पी.जी.डी.ई.एस.डी.	1 वर्ष